जागे पावन प्रेरणा

आचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्का

जागे पावन प्रेरणा

विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्का

विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी

H03 - जागे पावन प्रेरणा

प्रथम संस्करण : १९९४
द्वितीय संस्करण : १९९७
पुनर्मुद्रण : २००२, २००६, २०१२
तृतीय संस्करण : जनवरी २०१५

ISBN: 81-7414-127-8

प्रकाशकः
विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी - ४२२ ४०३
जिला- नाशिक, महाराष्ट्र
फोनः ०२५५३-२४४९९८, २४४०७६, २४४०८६,
२४३७१२, २४३२३८; फैक्सः ९१-२५५३-२४४१७६
Email: vri_admin@dhamma.net.in
info@giri.dhamma.org
Website: www.vridhamma.org

मुद्रकः
अपोलो प्रिंटिंग प्रेस
जी-२५९, सीकॉफ लिमिटेड, ६९ एम. आय. डी. सी.,
सातपुर, नाशिक-४२२००७, महाराष्ट्र

जागे पावन प्रेरणा

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशकीय

'जागे पावन प्रेरणा' श्रद्धेय गुरुजी के लेखों का संकलन है। एक दृष्टि विशेष के साथ संपादित संकलन। मोतियों की माला की तरह चुन-चुन कर किसी प्रयोजन विशेष से पिरोया हुआ संकलन। यह ग्रंथ पूर्व में 'जागे मंगल प्रेरणा' नाम से छपा, लोकप्रिय हुआ और सुधी पाठकों द्वारा सराहा व अपनाया गया। मगर गुरुजी उस पर पुनर्विचार करते रहे। चुन-चुन कर मोतियों को पिरोने और इस पावन ग्रंथ को और भी अनुपम बनाने के लिए चिंतन-मनन करते रहे। हमें प्रसन्नता है कि अब हम इसके पुनः संपादित, संवर्धित एवं संशोधित रूप को दो भागों में विभक्त करके नये नामों से प्रकाशित कर रहे हैं।

दूसरे ग्रंथ का नाम 'जागे अंतर्बोध' रखा है। ये दोनों ग्रंथ वास्तव में एक लंबी शोध एवं साधना-यात्रा के शब्द-चित्र हैं। जीवन-यात्रा के शब्द-चित्र, अन्वेषण-यात्रा के शब्द चित्र, साधना-यात्रा के शब्द-चित्र और लोक-मंगल को समर्पित एक अनंत करुणा भरी विचार-धारा के शब्द-चित्र। पूज्य गुरुजी ने भगवान बुद्ध के जीवन को इतना करीब से देखा प्रतीत होता है कि ये शब्द-चित्र इतिहास व अतीत नहीं लगते। इनकी जीवंतता में भगवान बुद्ध की करुणाभरी मंगल मैत्री स्पंदित होती दीखती है। उनका शिक्षक-रूप साक्षात सामने खड़ा चित्त के विकार हरता दीखता है।

विपश्यना विशोधन विन्यास का यह गौरव है कि हम इतनी सुविचारित, सुभाषित एवं सुरुचिपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन कर पा रहे हैं। हमें भरोसा है कि ये ग्रंथ जहां एक ओर विपश्यी साधकों को साधना संबंधी विचार-वीथियों का सहज परिचय करायेंगे, वहीं सामान्य पाठकों को अपनी रोचक व सरल भाषा में भगवान बुद्ध के जीवन व साधना की सैकड़ों झलकियां भी दिखायेंगे।

हमें विश्वास है कि सुधी पाठक इस ग्रंथ-द्वय का उसी स्नेह से स्वागत करेंगे, जो हमें पूर्व में भी मिलता रहा है। सबके लिए मंगल-मैत्री!

मानद मंत्री,

विपश्यना विशोधन विन्यास

भूमिका

भूमिका

बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम पैंतीस वर्ष की अवस्था में सम्यक संबुद्ध बने। उन्हें परम सत्य निर्वाण का साक्षात्कार हुआ। उन्होंने इस सच्चाई का दर्शन किया कि मैं भवचक्र से नितांत विमुक्त हुआ। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं है।

तदनंतर सात सप्ताह बोधिवृक्ष के आसपास विमुक्तिसुख में बिताए और अपने अनुभव पर उतरी नैसर्गिक सच्चाइयों का प्रत्यवेक्षण करते रहे। किस प्रकार अपनी ही नासमझी के कारण प्राणी निरयलोक से भवाग्र ब्रह्मलोक के बीच जन्म-जन्मांतरों तक भव-भ्रमण करते रहता है। विपश्यना-विद्या द्वारा अपने ही भीतर इस भवचक्र का साक्षात्कार करते हुए इससे मुक्ति पा लेता है। इसी जीवन में नित्य, शाश्वत, ध्रुव परमपद का साक्षात्कार कर लेता है। विपश्यना की इस विद्या ने मुझे विमुक्त किया। इसे जो सीख लेगा वही अभ्यास करते हुए देर-सबेर भवदु:ख से विमुक्त हो ही जायगा। यह विद्या इतनी सरल, स्वच्छ और स्पष्ट है तो भी अपनी-अपनी सांप्रदायिक मान्यताओं और कर्मकांडों के जंजालों में उलझे हुए लोग इसे समझना ही नहीं चाहेंगे, इसे आजमा कर देखना तो दूर की बात हुई। कुछ समय तक ऐसा चिंतन चला। फिर उनके भीतर अनंत करुणा का झरना फूट पड़ा। अरे, कुछ लोग तो संसार में ऐसे हैं ही, जिनकी आंखों पर मिथ्या दार्शनिक मान्यताओं के जाले बहुत झीने हैं। वे इन जालों को दूर करके इस विद्या द्वारा नैसर्गिक सच्चाई का यथाभूत दर्शन कर अवश्य अपना कल्याण कर लेंगे। जितनों का हितसुख सधे, उतना ही भला। प्यासी धरती पर करुणा का मेघ-जल बरसना ही चाहिए। प्यासी धरती पर धर्मगंगा बहनी ही चाहिए। जो बहुत उपजाऊ होगी, वह इससे तत्काल लाभान्वित हो जायगी। जो ऊसर-बंजर होगी, वह इस तत्काल लाभ से वंचित रह जायगी। पर धर्मगंगा को तो बहना ही चाहिए।

और बह चली धर्मगंगा। जीवन के बचे हुए पैंतालीस वर्ष इस धर्मगंगा को प्रवाहित करने में ही बिता दिए। सत्य की खोज में नितांत निवृत्तमान हुआ व्यक्ति अब पूर्णता प्राप्त कर असीम प्रवृत्ति में लग गया। अहर्निश प्रवृत्ति-ही-प्रवृत्ति। रात को लगभग एक प्रहर शरीर को विश्राम देने के लिए लेटते, बाकी सारा समय असीम करुणचित्त से लोकसेवा-ही-लोकसेवा में लगे

रहे। इस सेवा के बदले कुछ पाने की भावना नहीं थी। जिसे अनुत्तर विमुक्त अवस्था प्राप्त हो गयी हो, उसे अब पाने के लिए और क्या रह गया भला! अब तो केवल बांटना-ही-बांटना था और जीवनभर मुक्तहस्त से, करुणचित्त से बांटते-ही-बांटते रहे।

जिस व्यक्ति की जैसी पृष्ठभूमि देखी, जिसका जैसा मानसिक धरातल देखा, जिसकी जितनी ग्रहण-क्षमता देखी, उसे उसकी समझने की शक्ति के अनुरूप ही उचित शब्दावली में, उपमाओं और उदाहरणों में, सरल-सरल लोकभाषा में, धर्म समझाया। सांप्रदायिक धर्म नहीं, सार्वजनीन धर्म, ऋत धर्म। नैसर्गिक नियमों की सीधी-सीधी सार्वजनीन बातें – यह कारण होगा तो यह परिणाम आयगा ही; यह कारण नहीं होगा तो यह परिणाम भी नहीं आयगा। मन में विकार जागेगा तो उसके साथ दुःख जागेगा ही। विकार जितना-जितना बढ़ेगा, दुःख उतना-उतना ही बढ़ता जायगा। विकार जागना बंद हो जायगा तो दुःख स्वतः बंद हो जायगा। निसर्ग का यह सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक नियम। इसी नियम को स्वानुभूति द्वारा जान कर मानस की जड़ों तक विकार-विमुक्त होने की विपश्यना-विधि सिखाई। पैंतालीस वर्षों तक यही सिखाते रहे। दुख सार्वजनीन है और दुख से बाहर निकलने का यह उपाय (विपश्यना) सार्वजनीन है।

प्रत्येक वर्षावास के तीन-चार महीने किसी एक स्थान पर विहार करते। अधिकतर श्रावस्ती या राजगृह जैसे घनी आबादी वाले नगरों के समीप बने हुए विहारों में रहते, ताकि नगर के अधिक-से-अधिक लोग इस मांगलिक विद्या को सीख कर लाभान्वित हो सकें। वर्षावास के बाद बाकी सारा समय उत्तर भारत के गांव-गांव, निगम-निगम, नगर-नगर में धर्मचारिका करते हुए लोकसेवा करते और लाखों-करोड़ों लोगों को विकार-विमुक्ति की विपश्यना-विधि का संदेश देते, उसका समुचित निर्देशन देते।

देश के हर संप्रदाय के, हर मान्यता के, हर जाति, वर्ग व वर्ण के, हर पेशे के, हर प्रदेश के लोग भगवान के संपर्क में आए और उनके बताए मार्ग पर चल कर मंगल-लाभी हुए। इसी जीवन में लाभान्वित हुए।

चाहे मगधनरेश बिंबिसार हो या कोशलनरेश प्रसेनजित, चाहे महारानी मल्लिका हो या महारानी खेमा, चाहे सेनापति बंधुल हो या सेनापति सिंह, चाहे राजपुरोहित कात्यायन हो या राजवैद्य जीवक, चाहे दानवीर सद्गृहस्थ अनाथपिंडिक हो या भिखमंगा कोढ़ी सुप्पबुद्ध, चाहे राजमहिषी श्यामावती हो

या दासी खुज्जुत्तरा, चाहे संन्यासी जटिल काश्यपबंधु हों या परिव्राजक दारुचीरिय, चाहे सद्गृहिणी विशाखा हो या नगरवधू अंबपाली, चाहे ब्राह्मण महाकाश्यप हो या भंगी सुनीत, चाहे ब्राह्मण सारिपुत्त हो या चांडालपुत्र सोपाक, चाहे सदाचारी सीलव हो या हत्यारा अंगुलिमाल; जो भी भगवान बुद्ध के संपर्क में आया, जिसने भी धर्मगंगा में डुबकी लगाई, जिसने भी विपश्यना-साधना का अभ्यास किया, वही बदल गया।

पैंतालीस वर्षों तक भगवान ने हजारों सदुपदेश दिए। उनके परिनिर्वाण के चंद महीनों के बाद ही उनके पांच सौ प्रमुख भिक्षु शिष्यों की संगायन समिति ने भावी पीढ़ियों के लाभार्थ इन उपदेशों का संकलन-संपादन किया, जो कि तिपिटक के नाम से जाना गया। कुछ समय बाद उन पर भाष्य (अर्थकथाएं) और टीकाएं लिखी गयीं। यह सारा साहित्य बहुत विशाल है। यद्यपि भारत ने इसे खो दिया, पर पड़ोसी ब्रह्मदेश ने कल्याणी विपश्यना-विद्या के साथ-साथ इस विशाल वाङ्मय को भी शुद्धरूप में सुरक्षित रखा है।

इस संगायन समिति ने भगवान के उपदेशों को संपादित करते हुए उनमें से अनेकों का संदर्भ भी संकलित किया, यानी अमुक उपदेश कब, कहां, किसे, क्यों और किस परिस्थिति-परिवेश में दिया गया। उपदेशों की ये भूमिकाएं उन साक्षी भिक्षुओं द्वारा संकलित किये जाने के कारण ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। यह समस्त साहित्य अब पालि भाषा में, बर्मी लिपि में उपलब्ध है। जब नागरी लिपि और हिंदी भाषा में प्रकाशित होगा तो देश की एक विलुप्त अनमोल संपदा प्रकाश में आयगी। इस विशाल साहित्य में तत्कालीन भारत की धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, प्रशासनिक, शैक्षणिक, व्यापारिक, सामाजिक, पारिवारिक अवस्थाओं का आंखों देखा एक बृहत रंगीन चित्रपट प्रस्तुत होगा। यद्यपि उस संकलन का यह रंचमात्र भी उद्देश्य नहीं था कि उस समय के ऐतिहासिक इतिवृत्त को संपादित किया जाय, उद्देश्य तो केवल यही था कि प्रत्येक भूमिका तत्संबंधित उपदेश के आशय को अधिक स्पष्ट करने और आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान करने में सहायक हो। यही कारण है कि सार्वजनीन और सार्वकालिक सनातन धर्म का आधार लिए हुए यह साहित्य आज भी उतना ही तरोताजा और प्रेरणास्पद है।

ऐसी कुछ एक घटनाएं इन लेखों में प्रकाशित हुई हैं। वे विपश्यी साधकों को ही नहीं, सभी अध्यात्म-प्रेमियों को प्रेरणा प्रदान करेंगी। विपश्यना-साधना

सार्वजनीन है। इस पर किसी एक संप्रदाय का प्रभुत्व नहीं है। यह सब के लिए समानरूप से उपादेय है, समानरूप से सुलभ है।

यह प्रकाशन बहुजन के हितसुख का कारण बने, लोगों में साधना के प्रति प्रेरणा जागे और वे इसका अभ्यास करके दुःख से विमुक्ति पा लें! सबका मंगल हो! कल्याण हो!!

कल्याण मित्र,

स. ना. गो.

विपश्यना क्यारगार हुई

१. अमर निर्वाण की सच्चाई

१. अमर निर्वाण की सच्चाई

नन्हीं-नन्हीं सामान्य साधारण घटनाएं सब के जीवन में घटती रहती हैं, परंतु कभी-कभी बहुत साधारण-सी लगने वाली घटना किसी पुण्यशाली व्यक्ति के लिए अपूर्व प्रेरणा-प्रदायिनी बन जाती है और उसके अंतर में एक ऐसा अदम्य उत्साह जगा देती है कि वह सारी सुख-सुविधाओं को लात मार कर मुक्ति के मार्ग पर प्रबल पराक्रम करता हुआ बढ़ चलता है।

किसी बूढ़े को, बीमार को, मुर्दे को और संन्यासी को देख लेना कोई असाधारण बात नहीं है। लोग देखते ही रहते हैं। हो सकता है पिता शुद्धोदन ने पुत्र सिद्धार्थ को निवृत्ति-मार्ग की ओर जाने से रोकने के लिए विलास-वैभव और आमोद-प्रमोद में लगाये रखा हो। यह भी संभव हो कि किसी मुर्दे को देखने का उसे पहले कभी कोई अवसर न मिला हो। पर वृद्ध तो देखा ही होगा। भले बढ़ी उम्र वाले नौकर-नौकरानियों को राजकुमार से दूर रखा जाता रहा हो, परंतु उसकी अपनी छोटी मां प्रजापती गौतमी और स्वयं पिता शुद्धोदन लगभग ७० वर्ष के हो चुके थे, जब कि राजकुमार २५-३० साल का हुआ। उनके पके हुए बाल, चेहरों पर पड़ी हुई झुर्रियां, उसने अवश्य देखी होंगी। इसी प्रकार उनमें से किसी को कभी रोग से पीड़ाग्रस्त हुआ भी देखा ही होगा। धर्मभीरु राजघराना था। आए दिन साधु-संतों को भोजन-दान, उनका सम्मान-सत्कार चलता ही रहा होगा। उनकी वंदना करने और उनके मंगल-आशीर्वाद लेने के लिए राजकुमार को भी उनके सम्मुख लाया ही जाता होगा। अतः यह अनुमान करना गलत नहीं कि ऐसे दृश्य राजकुमार ने पहले भी अवश्य देखे होंगे। परंतु उस दिन इन्हीं निमित्तों को देखते हुए मनःस्थिति इस प्रकार की रही होगी, जिसकी वजह से गृह-त्याग कर सत्य की खोज की ऐसी प्रबल प्रेरणा जाग उठी, जो किसी के रोके न रुक सकी।

उस दिन देखे गये जरा, व्याधि और मृत्यु के प्रतीकों में सारे संसार का दुःख उभर उठा होगा और उस गृहत्यागी संन्यासी के शांत चेहरे के प्रतीक में दुःख-विमुक्ति का अपूर्व आश्वासन मन में जाग उठा होगा। इसी कारण उस समय उस घटना ने चिंतनशील राजकुमार के मानस पर विचारों का बहुत बड़ा तूफान खड़ा कर दिया होगा।

जहां संसार में जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु की सर्वत्र कराह है, वहां उनके परे अजर-अमर निर्वाण की सच्चाई भी होगी ही। मुझे उसकी खोज करनी चाहिए।

जैसे संसार में एक ओर इंद्रिय-दुःख है तो दूसरी ओर इंद्रिय-सुख का भी अस्तित्व है। ऐसे ही जहां भव-चक्र है, वहां भव-निःसरण भी अवश्य होगा ही।

जैसे संसार में उष्णता है तो उसके मुकाबले शीतलता भी है, वैसे ही जहां त्रिविध ताप है वहां सर्वतापनाशक निर्वाण की परम शांति भी अवश्य होगी ही।

जैसे जहां पाप है और उसके विपरीत पुण्य भी है, वैसे ही जहां जन्म है वहां अजन्म अवस्था भी होगी ही। जहां जरा है, वहां अजर अवस्था भी होगी ही। जहां मृत्यु है वहां अमृत भी अवश्य होगा ही। मुझे इसकी गवेषणा करनी चाहिए, पर्यवेषणा करनी चाहिए।

जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु के इस दुःखद भवचक्र का कोई तो मूलभूत कारण होगा ही, और यदि है तो उसके निवारण का भी कोई उपाय अवश्य होगा। यदि ऐसा कोई उपाय है तो उसके द्वारा भवचक्र से सर्वथा विमुक्त हो; नितांत दुःख-निरोध की अवस्था का परम-सत्य उपलब्ध किया जा सकता है। किया जाना ही चाहिए। केवल मेरे ही दुःख-निरोध के लिए नहीं, संसार के इतने सारे प्राणी दुःखों से तड़प रहे हैं, इनकी दुःख-विमुक्ति के लिए भी परम सत्य की खोज करनी आवश्यक है।

गंदगी से भरे व्यक्ति को अपने मैल धोने के लिए सरोवर तो है, पर वह सरोवर की खोज ही न करे तो दोष किसका? सरोवर का नहीं।

प्राणघातक दुश्मनों से घिरे हुए व्यक्ति के लिए भाग निकलने का रास्ता तो है, परंतु वह उसे ढूंढे ही नहीं तो दोष किसका? रास्ते का नहीं।

आग की लपटों से घिरे घर में-से भाग निकलने की राह तो है, पर उसे जानने का प्रयत्न ही न करे तो दोष किसका? राह का नहीं।

रोग दूर करने के लिए चिकित्सा तो है, पर रोगी उसे उपलब्ध ही न करे तो दोष किसका? चिकित्सा का नहीं।

जन्म-जन्मांतरों के भवचक्रों से पीड़ित व्यक्ति के लिए क्लेश-निवारण का मार्ग तो है, परंतु वह उस मार्ग की गवेषणा ही न करे तो दोष किसका? मार्ग का नहीं।

और यह गवेषणा घर बैठे हो नहीं सकती। घर-गृहस्थी में धर्म के नाम पर अधिकतर कर्मकांड ही चलते हैं। उनमें परम सत्य को खोजना निस्सार में सार को खोजने जैसा ही है। पिता ने तत्कालीन दर्शन-शास्त्रों के आचार्यों को घर बुला-बुला कर सभी दार्शनिक मान्यताओं पर ऊहापोह करने के साधन जुटा दिये थे। परंतु इस कोरे चिंतन-मनन मात्र से परम सत्य की उपलब्धि हो जाय, यह असंभव है। पूर्वकाल के मुक्त हुए महापुरुषों ने सत्य का साक्षात्कार स्वयं किया और अपने भीतर ही किया। मुझे भी यही करना होगा। परम सत्य की खोज अपने भीतर ही करनी होगी। इसके लिए अंतर में पैठ सकने की कोई वैज्ञानिक विधि ढूंढनी होगी, जिसके निरंतर निर्बाध अभ्यास के लिए अनुकूल वातावरण चाहिए जो कि इस बाह्य प्रेक्षी राजसी वातावरण में पा सकना असंभव है।

परम सत्य की खोज की इस तीव्र अभिलाषा को सामान्य से लगने वाले इन चार प्रसंगों ने कितना बल दिया। अनिंद्य सुंदरी परम रूप-लावण्यमयी सेवाभाविनी पत्नी यशोधरा का और सुंदर सुकोमल नवजात शिशु राहुल का सारा आकर्षण त्याग कर सत्य-शोधक राजकुमार सिद्धार्थ गृहत्यागी बना। राज्य के समस्त वैभव-विलास, आमोद-प्रमोद के प्रसाधनों को इसी निःसंगभाव से त्याग कर चल दिया जैसे कोई शौचालय में जा कर मल-मूत्र त्याग कर चल देता है और उस ओर मुड़ कर देखता भी नहीं।

परम सत्य की खोज में निकला हुआ मुमुक्षु राजकुमार अनेक जगह भटका, अनेक प्रकार के प्रयोग कर के देखे। अपने भीतर समाधि की तलस्पर्शी गहराइयों को मापने के लिए उन दिनों के प्रसिद्ध ध्यान-आचार्यों आलारकलाम और उद्दकरामपुत्त से क्रमशः सातवां और आठवां ध्यान सीखा। पर इनसे भी इंद्रियातीत परम सत्य का साक्षात्कार न हो सका। यह उन दिनों के प्रचलित ध्यान की बहुत ऊंची अवस्थाएं थीं। पहले से चौथा ध्यान अपने भीतर और पांचवें से आठवां ध्यान बाहर अनंत तक फैलने का ध्यान होता है। इन ध्यानों के कई आलंबन होते हैं। मिट्टी, जल, अग्नि, वायु के अतिरिक्त विभिन्न रंगों और रोशनियों को भी आलंबन बनाया जाता है। लंबे अभ्यास द्वारा ऐसे आलंबन को संकुचित करते-करते बंद आंखों के सामने एक लेशमात्र बिंदु तक सिकोड़ कर स्थिर कर लिया जाता है और फिर प्रबल मनोबल से उस पर पूरा अधिकार जमाने के अनेक प्रयोग किये जाते हैं। तदनंतर साधक उसे यथेच्छ विस्तृत करता है, फैलाता है। अनंत तक फैलाते जाता है। लेशमात्र रंग के बिंदु को, आगे चल कर शुभ्र प्रकाश के बिंदु को अनंत तक फैला कर साधक, अपने

चित्त को उसमें समाहित कर लेता है। शुभ्र लेश्या से अनंत आयतनों की पांचवीं से आठवीं ध्यान-समापत्तियों द्वारा साधक का मानस बहुत अंशों में निर्मल हो जाता है। परंतु अंतर्मन की गहराइयों में अनेक जन्मों से संचित कर्म-संस्कारों के कषाय-क्लेश की कुछ जड़ें बची रह जाती हैं। उनको भी दूर किये बिना पूर्ण मुक्ति कहां? आठों ध्यानलाभी साधक भवाग्र स्थित अरूप ब्रह्मलोक का अधिकारी अवश्य हो जाता है, पर भवातीत निर्वाण कहां? लोकातीत परम विमुक्ति की अवस्था कहां? ऐसा साधक अतींद्रिय अनुभूतियां प्राप्त कर के अनेक प्रकार की अलौकिक लगने वाली ऋद्धि-सिद्धियों का अधिकारी अवश्य बन जाता है, पर इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव परम शांति की अवस्था कहां? जब तक लेशमात्र भी कर्म-क्लेश बाकी हैं तब तक भवचक्र, लोकचक्र, दुःखचक्र चलता ही रहता है। जो विमुक्ति के परम सत्य का अन्वेषी है वह भला यहीं कैसे रुकता? उन ध्यान-आचार्यों के पास लेशमात्र बचे हुए अनुशय, सुषुप्त क्लेशों को दूर करने का कोई साधन नहीं था। अतः राजकुमार तपस्वी अन्य साधनों की खोज में चल पड़ा।

उन दिनों एक बहुत प्रबल मान्यता यह थी कि भिन्न-भिन्न प्रकार से शरीर को यंत्रणा देने से, कष्ट देने से, कर्म के मैल उतर जाते हैं। क्यों न इसे भी आजमा कर देखा जाय? असीम वैभव विलास में पला हुआ सुकुमार सुकोमल राजयोगी इस दुष्कर चर्या में भी दृढ़तापूर्वक लग गया और इसकी भी चरम सीमा तक का प्रयोग कर के देख गया। उन दिनों के प्रचलित सभी देहदंडों की तपश्चर्या करके देखी। अनेक प्रकार से काया पर आतापन-संतापन का प्रयोग किया।

अनेक दिनों कांटों की शय्या पर सो कर देखा। ठिठुरती ठंड में भीगे वस्त्रों पर सोने का उपक्रम किया। शीतकाल में रात-रात भर खुले मैदानों में रहता और दिन में सीलनभरे घोर वनखंडों में। ग्रीष्म की तपती दोपहरी में बिना छाया वाले खुले मैदानों में रहता तो रात सघन वनखंडों में शरीर को नाना प्रकार से कष्ट देता। नाना प्रकार के अभक्ष्य भोजन कर के देखे और जब उपवास करने पर तुला तो ऐसे उपवास किये कि शरीर को सुखा कर कांटा बना लिया। कहीं मांस-मज्जा का नामोनिशान नहीं बचा। केवल हड्डियों का पिंजर और उस पर सिकुड़ी हुई चाम। पैंतीस वर्ष की अवस्था में अस्सी वर्ष के बूढ़े से भी बदतर हालत हो गयी। स्वर्णिम आभा वाले सुंदर शरीर का रंग काला पड़ गया। जगह-जगह मैल के चिट्टे जम गये। कूल्हे ऐसे हो गये जैसे ऊंट के पांव। रीढ़ की हड्डी के उन्नत-अवनत कांटे ऐसे हो गये जैसे मूंज की ऐंठनभरी

रस्सी। पसलियां ऐसी हो गयीं, जैसे जीर्ण-शीर्ण मकान की ढीली होकर अलग-थलग हुई कड़ियां-लकड़ियां। आंख के गड्ढों में पुतलियां ऐसी, जैसे गहरे कुएं में किसी तारे का प्रतिबिंब दीखता हो। सिर पर की चमड़ी ऐसी हो गयी जैसे कच्ची तोड़ी हुई लौकी धूप में सूख कर सिकुड़ गयी हो। पेट की चमड़ी पीठ की हड्डी से जा जुड़ी। उसे पकड़ना चाहता तो रीढ़ की हड्डी के कांटे हाथ में आ जाते। शरीर इतना कृश और दुर्बल हो गया कि जिस अंग को हाथ का सहारा दे कर उठना चाहता, वहीं के सड़ी हुई जड़ वाले लोम उखड़-उखड़ कर गिर पड़ते। मल-मूत्र त्यागने के लिए उठ कर चलना चाहता तो एक कदम भी न चल पाता, वहीं भरभरा कर गिर पड़ता। काय-क्लेश की पराकाष्ठा।

लगभग छह वर्ष तक देह-दंडन की ऐसी कठोर दुष्कर चर्या कर के भी देखा कि आठों ध्यान के बाद अंतर्मन की गहराइयों में जो लेशमात्र अनुशय-क्लेश बचे थे वे वैसे के वैसे हैं। जरा भी दूर नहीं हुए।

तो बात समझ में आयी कि जिस प्रकार काम-भोग, विलास-वैभव का जीवन जीते हुए कोई व्यक्ति एक अति का जीवन जीता है और मुक्ति से दूर रहता है, वैसे ही काय-उत्पीड़न की तपश्चर्या में लगा हुआ व्यक्ति दूसरी अति का जीवन जीता है और वह भी इसी प्रकार मुक्ति से दूर रहता है। सुधारना मन को है। उसे विकारों से विमुक्त करना है। इस विमुक्ति की साधना के लिए मध्यम मार्ग की खोज करनी होगी।

युक्त आहार ग्रहण कर के शरीर को आर्य साधना के योग्य बना कर स्वयं ही अपने भीतर मध्यम मार्ग की साधना की खोज में लग गया। अनेक आंतरिक बाधाओं का सामना करता रहा। अंततः अपने अनेक जन्मों में संचित संवर्धित पुण्य पारमिताओं का अपरिमित बल जाग उठा और विपश्यना का मुक्तिदायी मार्ग उजागर हुआ।

काम-भोगों का बंधन स्पष्ट हुआ। देह-दंडन की निस्सारता स्पष्ट हुई। कर्मकांडों की निष्प्रयोजनता स्पष्ट हुई। विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के जंजाल टूटे। स्वानुभूति के आधार पर जागी हुई भावनामयी प्रज्ञा के बल पर अंधमान्यताजन्य दर्शन सम्यक-दर्शन बना। बौद्धिक चिंतन-मनन वाला भ्रामक ज्ञान सम्यक-दर्शन के आधार पर प्रत्यक्ष अनुभूतियों वाला सम्यक ज्ञान बना। काल्पनिक विमुक्ति सम्यक विमुक्ति बनी। परम कल्याणी सम्यक संबोधि की उपलब्धि हुई। सारे अनुशय-क्लेश छिन्न-भिन्न हुए। चित्त समस्त विकारों से नितांत विमुक्त हुआ। चेतोविमुक्ति प्रज्ञाविमुक्ति में सहायक हुई। नित्य,

शाश्वत, ध्रुव, प्रणीत, प्रशांत शिव से एकाकार हुआ। परम सत्य का साक्षात्कार हुआ।

सिद्धार्थ राजकुमार सम्यक संबोधि प्राप्त कर सम्यक संबुद्ध बना। सर्वथा जाग्रत, प्रबुद्ध, सर्वज्ञ।

सामान्य साधारण से लगने वाले ये चार प्रतीक किस प्रकार असीम प्रेरणा के प्रसंग बने। साधक के मन में सत्यान्वेषण का जो झंझावात जागा वह अनंत शांति की परम अवस्था तक पहुँच कर ही रुका। साधक धन्य हुआ। ऐसे साधक को पा कर स्वयं साधना धन्य हुई। ऐसा साधक जो कि केवल अपनी ही स्वस्ति-मुक्ति का कारण नहीं बना, बल्कि लाखों-करोड़ों की स्वस्ति-मुक्ति का प्रेरणा-स्रोत बन गया। मँझधार में डूबते हुओं के लिए प्रकाशमान दीप-स्तंभ बन गया।

हमारे भीतर भी ऐसी मंगलमयी प्रेरणा जागे, जो असीम शुभ-फलदायी हो!

२. तपन बुझी

जब कोई साधक विपश्यना में गंभीरता से प्रवृत्त होता है तो बहुधा उसे बहुत तप्त संवेदनाओं में-से गुजरना पड़ता है। यह ताप मौसम का ताप नहीं होता, क्योंकि बहुत बार देखा गया है कि शीत ऋतु में अथवा हिमालय में लगे शिविरों में लोग कंबल और रजाइयां ओढ़-ओढ़ कर साधना करने बैठते हैं, परंतु विपश्यना आरंभ करने के बाद अनेकों को इतनी तप्त गर्मी महसूस होती है कि उन्हें कंबल और रजाई ही नहीं, तन पर के कुछ कपड़े भी उतारने पड़ जाते हैं। यह शरीर का ही ताप नहीं है, क्योंकि साधक को इसका तापमान शरीर के तापमान से कहीं अधिक महसूस होता है। शरीर का तापमान हो तो लगभग वही तापमान सतत बना रहना चाहिए। पर ऐसा नहीं होता। कुछ देर के लिए किसी-किसी साधक को ऐसे लगता है जैसे उसका सारा शरीर जलती भट्ठी में झोंक दिया गया है। साधक उस समय साधना बंद कर दे, बहिर्मुखी हो जाय, किसी अन्य प्रवृत्ति में लग जाय तो सारी तपन दूर हो जाती है। साधना शुरू करते ही फिर वैसी ही तपन महसूस होने लगती है। समझदार गंभीर साधक हो तो ऐसे समय इस ताप के प्रति अनित्यबोध और तटस्थभाव बनाए रखता है। इसके प्रति जरा भी प्रतिक्रिया नहीं करता, तो देखता है कि देर-सबेर सारी तपन समाप्त हो जाती है। परिणामतः बहुत शीतलता महसूस होती है – ऐसी आंतरिक शीतलता, जैसी पहले कभी नहीं अनुभव की। न तो यह तपन शरीर की स्वाभाविक तपन है और न ही मौसम की। ऐसे ही यह शारीरिक शीतलता न शरीर की स्वाभाविक शीतलता है और न मौसम की। यह पूर्व-संचित मनोविकारों का ताप है, जो कि तटस्थ स्वभाव वाली विपश्यना-साधना के कारण उभरता है और तटस्थता बनाए रखें तो सहजभाव से उसका निरोध हो जाता है, उपशमन हो जाता है। विपश्यना की समता से ही इन पूर्व कर्म-संस्कारों की उदीर्णा होती है, निर्जरा हो जाती है; इनका क्षय हो जाता है। इन कर्म-संस्कारों के ताप की जितनी निर्जरा हो जाय, उतनी-उतनी सुख-शांति साधक महसूस करता है –

उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति, तेसं वूपसमो सुखो।

साधना के दौरान अनेक साधकों को इस भीतरी तपन के मारे सारी रात नींद नहीं आती। साधक नासमझ होता है तो इसकी वजह से व्याकुलता पैदा

करके अपने आपको अनिद्रा का रोगी मान लेता है, परंतु यदि समझदारी से तटस्थभाव बनाए रखता है तो यही अंतर्तप उसके कल्याण का कारण बन जाता है। पूर्व-संचित कर्मबीजों को इस अंतर्तप से भून लेता है। उनके भावी अत्यधिक दुःखद परिणामों से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है। और जब इस अंतर्तप के समापन पर शीतलता महसूस होती है तो साधक सुख की नींद सोता है। ऐसा अनुभव अनेक साधकों को होता ही रहता है।

जो साधक सभी कर्मकांडों और दार्शनिक मान्यताओं के जंजालों को छोड़ कर, धीरज के साथ अनन्यभाव से विपश्यना के अभ्यास में लग जाता है, वह और भी गहराइयों से अपने अंतर्मन में दबे हुए गहरे संस्कारों को उभार कर उनका उपशमन करते हुए इंद्रियातीत अवस्था की अनुभूति कर लेता है। अनित्यधर्मा इंद्रियजगत को पार कर नित्य-धर्मा निर्वाण-सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। वाण कहते हैं जलने को। निर्वाण माने वह अवस्था, जहां तृष्णा की जलन समाप्त हो जाय। ऐसी अवस्था में जो शीतलता की अनुभूति होती है, वह सामान्य शीतलता से कई गुना अधिक होती है। ऐसे **तण्हानं खयमज्झगा** की अवस्था को पहुँचे हुए साधक के लिए ही भगवान बुद्ध ने शीतलीभूत या शीतीभूत जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। उसके लिए भव-ताप का नामोनिशान नहीं रहा।

ऐसी ही एक मुक्त, अरहंत अवस्था प्राप्त भाग्यशालिनी साधिका की कथा यहां दी जाती है।

लिच्छवी गणराज्य के वैशाली नगर में रहने वाली एक क्षत्रिय कुल की सद्गृहिणी थी। धर्म की कल्याणकारिणी वाणी सुन कर मन में वैराग्य जागा, परंतु पति की मनोनुकूलता न देख कर गृहस्थी में रहते पत्नी-धर्म ही निभाती रही। एक दिन रसोई घर में भोजन पकाते हुए जिस हँडिया में शाक पकाना था, उसमें तरल झोल डालना भूल गयी। सूखा शाक, गर्म पेंदे से लग कर जल-भुन गया। गृहिणी-जीवन की यह सामान्य साधारण घटना, उसके लिए कल्याणकारी प्रेरणास्रोत बन गयी। उसके मन में बड़ा धर्म-संवेग जागा। अनित्य हैं, अनित्य हैं, सारे संस्कार अनित्य हैं। इसमें आस्वादन का रस न डाला जाय तो ये भी इस शुष्क शाक की भांति जल-भुन कर नष्ट हो जायेंगे। अब काम-भोग का रसास्वादन असह्य हो उठा। पत्नी में तीव्र वैराग्य की भावना जागी देख, पति ने इस बार उसका साथ दिया। उसे प्रसन्नतापूर्वक भगवान के आश्रम में छोड़ आया। महाप्रजापती गौतमी ने उसे प्रव्रज्या दी।

विपश्यना सिखाई। दृढ़ पराक्रम से साधना करती हुई वह साधिका कृतकृत्य हुई, अरहंत हुई, वीतराग हुई। साधना के दौरान कामराग के संस्कारों की जो तपन जागी थी, उसका उपशमन हुआ। आंतरिक शीतलता प्राप्त हुई। पहले रात-रात भर जो बेचैनी रहती थी, वह अब दूर हुई।

भगवान ने उसके पूर्व की तथा वर्तमान की स्थिति को देख कर यह जो आह्लादकारी उदान वचन कहे, वही यह साध्वी बार-बार उल्लासपूर्वक दुहराया करती थी;

सुखं सुपाहि थेरिके, कत्वा चोळेन पारुता।
उपसन्तो हि ते रागो, सुक्खडाकं व कुम्भियं॥

स्थविरके! तू सुख की नींद सो। अपने हाथ से बुने हुए वस्त्र को ओढ़ कर तू परम शांति लाभ कर, क्योंकि कड़ाही में पड़े शुष्क शाक की तरह तेरे सारे राग अब दग्ध हो गये हैं, शांत हो गये हैं।

भगवान की यह कल्याणकारिणी हर्ष-वाणी सभी साधक-साधिकाओं के लिए प्रबोधन का कारण बने और सभी अपने-अपने संचित संगृहीत संस्कारों को विपश्यना-साधना की आग द्वारा तप्त करके परम शांति की अनुभूति प्राप्त करें। दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पा लें। यही हमारे मंगल का समुचित उपाय है।

३. यह क्षण

जिस प्रकार हंडिया में जले हुए शाक को देख कर किसी साधिका के मन में अपने सभी कर्मबीजों को विपश्यना साधना द्वारा भून लेने का प्रेरक उत्साह जागा, उसी प्रकार अतीतकाल के अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनसे प्रेरित होकर साधक-साधिकाएं विपश्यना-साधना में अत्यंत उत्साहपूर्वक जुट गये और परम मुक्त अवस्था को प्राप्त किया।

कोशलनरेश प्रसेनजित के ब्राह्मण राजपुरोहित की पुत्री दँतिया। भगवान के संपर्क में आयी, यानी धर्म के संपर्क में आयी। श्रावस्ती में अनाथपिंडिक द्वारा निर्मित जेतवन विहार में अनेक भिक्षु-भिक्षुणियां, गृहस्थ पुरुष-स्त्रियां ध्यान-साधना किया करते थे। यह श्रद्धाबहुल ब्राह्मणपुत्री भी यहीं कुछ दिनों साधना सीखती रही। कुछ प्रगति हुई तो गृहस्थ न रह कर भिक्षुणी बनने का वैराग्यभाव मन में जागा। अतः महाप्रजापती गौतमी से प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुणी बनी और विपश्यना-भावना में रत रहने लगी।

एक बार भिक्षुणी संघ के साथ क्रमशः यात्रा करते हुए राजगृह गयी और वहीं भिक्षुणी विहार में रहने लगी। एक दिन मध्याह्न भोजन के बाद गिज्झकूट पर्वत पर किसी पेड़ के नीचे विचारमग्न बैठी थी। तब उसने देखा कि एक महाबलशाली विशालकाय हाथी नीचे नदी में जलविहार करके तट पर विश्राम कर रहा है। इतने में एक अंकुशधारी महावत वहां आया। उसने हाथी को आदेश दिया "पांव पसार"। हाथी ने अपना पांव पसार दिया, जिस पर चढ़ कर महावत हाथी की पीठ पर जा बैठा। हाथी उसके आदेशों को मानते हुए शहर की ओर चल दिया।

ऐसा महान बलशाली विपुल देहधारी गजराज यदि चाहता तो उस छोटे-से आदमी को अपने पांव तले कुचल कर उसका कचूमर निकाल देता, परंतु उसने ऐसा नहीं किया। वह मनुष्य का गुलाम हो गया था। उसके हुक्म का ताबेदार बन गया था। उसका सेवक बन गया था। हितैषी बन गया था।

भिक्षुणी सोचने लगी, जब एक अंकुशधारी महावत ऐसे शक्तिशाली प्राणी को अपने वश में कर सकता है तो मैं अपने मन को वश में क्यों नहीं कर सकती? अवश्य कर सकती हूं। इस प्रसंग से प्रेरणा प्राप्त कर भिक्षुणी दँतिया ने दृढ़ संकल्प किया और समीप के वन में प्रवेश कर मुक्तिदायिनी विपश्यना के

अभ्यास में जी-जान से जुट गयी। अथक परिश्रम द्वारा वह अचिरकाल में ही मानस के सभी कषायों की निर्जरा करके अरहंत अवस्था में प्रतिष्ठित हुई, भवचक्र से मुक्त हुई। उसने मानव-जीवन सफल कर लिया।

४. नया संकल्प

महानगरी श्रावस्ती के एक महावत के घर में जन्मा बालक हस्त्यारोहपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वयस्क होने पर उसने कुलगत हस्तिवशीकरण विद्या में पूर्ण निपुणता प्राप्त कर ली। चंड से चंड स्वभाव वाले मदमस्त हाथियों को अत्यंत कुशलतापूर्वक वश में करना सीख गया। एक बार किसी हाथी को वश में करने के काम में लगा हुआ था। एकाएक विचार उठा, "क्या मैं सारे जीवन इन चंड हाथियों को ही वश में करता रहूंगा? कभी अपने चंड स्वभाव वाले मन को भी वश में कर सकूंगा या नहीं?"

इस कुशल चिंतन से अभिभूत हो कर वह जेतवन विहार में गया। वहां भगवान की धर्ममयी अमृतवाणी सुन कर यही निर्णय किया कि मेरे लिए अपने मन को वश में करना अधिक उपयोगी है। उसे पालतू बनाने में पूरा श्रम लगाना चाहिए। जंगली हाथी को पालतू बना कर जितना लाभान्वित होता हूं उससे कहीं अधिक लाभ इस जंगली मन को पालतू बनाने से होगा। यह जब तक जंगली है तब तक बहुत बड़ा दुश्मन है। पर वश में हो जाय, पालतू हो जाय तो बहुत बड़ा मित्र बन जायगा, हितैषी सेवक बन जायगा। इस प्रकार सद्धर्म के प्रति अत्यंत श्रद्धावान हो कर घर से बेघर हो, भिक्षु बन गया।

भगवान से साधना की विधि सीख कर चिरकाल तक विपश्यना के अभ्यास में रत रहा, पर मन वश में नहीं हो रहा था। भूत-भविष्य की विभिन्न कामनाओं में, सुखद कल्पनाओं में लोट-पलोट लगाता रहता था। बड़ा ही दुर्दमनीय हो उठा था मन।

ऐसे समय उसे अपनी हस्तिविद्या का कौशल याद आया। किस प्रकार दुर्दमनीय हाथियों को कुशलतापूर्वक अपने वश में कर लिया करता था। उस कार्य में कितना धीरज रखना पड़ता था। मतवाले हाथी को कब कितनी छूट देनी होती थी, कब कितना अंकुश लगाना पड़ता था। किस चतुराई के साथ उसे वशवर्ती किया जाता था। इस चिंतन से उसके भीतर एक बिजली सी कौंधी। इसी प्रकार इस निरंकुश मन को भी निग्रहीत करना होगा। बहुत मनमानी कर ली इसने। बहुत दौड़ चुका इधर-उधर। बहुत होश खोये रहा यह। अब तो इसे पालतू बनाना ही होगा।

इस दृढ़ संकल्प के साथ स्वेच्छाचारी मन को वश में करने के काम में उसी प्रकार लग गया जिस प्रकार कि उन्मत्त हाथी को अंकुश के सहारे वश में किया करता था। धीरज और लगन के साथ काम करते-करते वह अपने शुभ प्रयत्नों में सफल हुआ। स्रोतापन्न, सकदागामी और अनागामी अवस्थाओं को पार करते हुए उसने अरहंत अवस्था के अमृतपद का साक्षात्कार कर लिया। कृतकृत्य हुआ। जीवन्मुक्त हुआ। धन्य हुआ!

५. सम्यक संकल्प

उन दिनों भगवान कोशल देश की राजधानी श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन विहार में वर्षावास कर रहे थे।

देश का राजा प्रसेनजित, विपश्यी साधक, गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारियों को निभाते हुए समय-समय पर अंतर्मुखी होकर आंतरिक सच्चाइयों का निरीक्षण किया करता था। इस आत्मनिरीक्षण की एक अवस्था में उसने इस सच्चाई को देखा था कि उसके लिए संसार में सबसे प्यारा उसका अपना 'अहं' ही है। इसी आत्मनिरीक्षण से यह बात भी समझ में आयी थी कि सभी को ऐसा होता है। लोक में सब अपने आप को ही प्यार करते हैं। यह प्यार अंधा हो जाता है तो सभी अपनी तृष्णाओं, कामनाओं, अभीप्साओं और भविष्य के प्रति सँजोये हुए स्वप्नों को ही प्यार करने लगते हैं। लोगों के सारे पारस्परिक संबंध इसी प्यार पर आधारित होने लगते हैं। जो हमारे स्वप्नों से प्यार करते हैं, हमारे स्वप्नों को पूरा करने में सहयोगी बनते हैं, वही प्यारे लगने लगते हैं। अन्य नहीं। जीवन जगत की यह मोटी-मोटी सच्चाई उसकी समझ में आयी, ध्यान के एक धरातल पर समझ में आयी।

अंतर्मुखी होकर यथाभूत वास्तविकता को देखने का अभ्यासी साधक धीरे-धीरे सच्चाई की गहनतर अवस्थाओं तक पहुँचता है तो आत्मदर्शन की साधना में देर तक तल्लीन होने लगता है। यही साधना की प्रतिसंल्लीनता है। इस प्रतिसंल्लीन ध्यान के दौरान बीच-बीच में चिंतन-मनन भी चलता है। संकल्प-विकल्प भी होता है। परंतु इस संकल्प-विकल्प का आधार सम्यक दर्शन है यानी स्वानुभूतिजन्य सत्यदर्शन है। अतः संकल्प-विकल्प भी स्वयमेव सम्यक होता है, धर्ममय होता है। अतः मांगलिक होता है, कल्याणकारी होता है।

कोशल नरेश राजा प्रसेनजित एक दिन इसी प्रतिसंल्लीन विपश्यना के दौरान सम्यक संकल्प का अनुभव करता है। सम्यक चिंतन-मनन द्वारा सोचता है और समझता है;

'सबको अपना आप ही प्यारा है यह तो ठीक, परंतु क्या हम सचमुच समझदारी के साथ अपने आप से प्यार करते हैं? कौन सही माने में अपने आप से प्यार करता है? कौन सही माने में अपने आप से प्यार नहीं करता?'

सत्योन्मुखी ध्यान के धरातल पर जब संकल्प-विकल्प चलता है तो कल्याणकारी ही होता है। शनैः शनैः स्थूल सच्चाइयों को निरखता हुआ साधक उन परतों के तले उनसे भी सूक्ष्म सच्चाइयों का निरीक्षण करने लगता है। फलतः अनेक गुत्थियां सुलझने लगती हैं। धर्म की और अधिक बारीकियां समझ में आने लगती हैं।

तो सम्यक मनन के स्तर पर यह प्रश्न उठा कि यह जो मैं कहता हूं कि अपने आप से प्यार करता हूं तो क्या सचमुच सही माने में ऐसा करता हूं? अपने इस 'मैं' को सुरक्षित रखने के लिए इसके स्वप्नों को पूरा करने के लिए, इस स्वप्न-पूर्ति के अंधेपन में इसके रास्ते पर विरोधी बन कर आने वाले हर प्राणी की हानि करता हूं। बाधक को दूर करने के उपक्रम में उसे कष्ट पहुँचाता हूं तो उस समय क्या सचमुच अपना भला करता हूं? अपना स्वार्थ साधता हूं? स्वप्न-पूर्ति के आवेश में जब अन्य निरीह लोगों का दमन, शोषण करता हूं, उनके जीने के अधिकारों को छीनता हूं, उनके हित-सुख का हनन करता हूं तो क्या सचमुच अपना मंगल साधता हूं?

साधक का सम्यक संकल्प, सम्यक दर्शन की आधार भूमिका पर आगे बढ़ता है, अतः वह स्पष्ट देखता है; बार-बार के विपश्यना-अनुभव से जानता है कि जब-जब वह इस 'मैं' से आसक्त होकर 'मेरे स्वप्नों' से आसक्त होकर मन, वाणी और शरीर से कोई कर्म करता है तो वह मोहजन्य ही होता है। राग-द्वेषजन्य ही होता है। अतः दुराचरण ही होता है। और जिस क्षण दुराचरण करता है, उस क्षण चित्तधारा पर कड़वे बीज बोने लगता है जो इसी क्षण दुःखदायी होते हैं और भविष्य के लिए भी दुःखद फलदायी ही होते हैं। तो ऐसा करते हुए कहां अपना भला कर रहा है? अपना बुरा ही तो कर रहा है न! स्व-अर्थ (स्वार्थ) साधने के नाम पर स्व-अनर्थ ही तो साध रहा है।

ऐसा व्यक्ति जो काया, वाणी और चित्त से दुराचरण करता है वह हजार कहे कि मैं अपने आप से प्यार करता हूं अथवा मुझे मेरा 'मैं' प्रिय है, पर वस्तुतः वह अपने आप से प्यार नहीं करता। उसे अपना 'मैं' कदापि प्रिय नहीं है। बैरी बैरी से जैसा बर्ताव करता है वैसा ही बर्ताव वह अपने आप से कर रहा है। बैरी बैरी की जितनी हानि नहीं कर सकता, उतनी हानि वह स्वयं अपने आप की कर रहा है।

तो क्या सचमुच उसे अपना 'मैं' प्यारा है? कदापि नहीं। किंचित भी नहीं। एक भ्रम है। वस्तुतः वह अपने आप का बड़े से बड़ा दुश्मन है।

अंतर्मुखी होकर सत्यान्वेषण करता है तो ऋत, धर्मनियामता, कुदरत का कानून, विश्व का विधान ठीक-ठीक समझ में आने लगता है; तो ही साधक सही माने में अपने आप से प्यार करने लगता है। अपनी चित्तधारा को निर्मल रखता है और ऐसा करते हुए वस्तुतः अपनी सुरक्षा करता है। अपना वर्तमान सुधारता है और भविष्य भी। अपना लोक सुधारता है और परलोक भी। सचमुच अपना भला करता है, अपना स्वार्थ साधता है। अनर्थ से बचता है। ऐसा व्यक्ति सही माने में अपने आप से प्यार करता है। वह हजार कहे कि उसे अपने आप से प्यार नहीं है, वह स्वार्थी नहीं है; परंतु उसे अपने आप से सही प्यार है। वह सही माने में स्वार्थी है।

एक मित्र दूसरे मित्र के साथ जैसा बर्ताव करता है वैसा ही वह अपने आप से कर रहा है। एक मित्र दूसरे मित्र का जितना भला नहीं कर सकता, उतना भला वह अपने आप का कर रहा है। ऐसा व्यक्ति सचमुच अपना स्वार्थ साधता है। सही आत्म मंगल में पर मंगल और सर्व मंगल समाया हुआ है। परम मंगल समाया हुआ है।

विपश्यना साधना के दौरान यानी सम्यक दर्शन और सम्यक संकल्प के दौरान यह जो सच्चाई महाराज प्रसेनजित की समझ में आयी वह उसने भगवान से मिल कर उनके सम्मुख संक्षेप में कह सुनायी। भगवान ने उसके कहे हुए का समर्थन करते हुए कहा;

"ऐसा ही है महाराज प्रसेनजित! ठीक ऐसा ही है। जो काया, वाणी, चित्त से दुराचरण करता है, उसे सही माने में अपने आप से प्यार नहीं है। जो काया, वाणी, चित्त से सदाचरण करता है, उसे ही सही माने में अपने आप से प्यार है।"

और इस अवसर पर भगवान ने यह कल्याणकारी धम्मपद कहे;

अत्तानञ्चे पियं जञ्ञा, न नं पापेन संयुजे।
न हि तं सुलभं होति, सुखं दुक्कटकारिना॥

– जिसे अपना आप (मैं) प्रिय है, उसे चाहिए कि वह अपने आप को पाप में न लगाये। दुष्कर्मी को सुख सुलभ नहीं होता।

अन्तके नाधिपन्नस्स, जहतो मानुसं भवं।
किञ्हि तस्स सकं होति, किञ्च आदाय गच्छति।

किञ्चस्स अनुगं होति, छायाव अनपायिनी॥

– मनुष्य-भव छूटते समय, मृत्यु के अधीन होते हुए का भला अपना क्या होता है? वह भला क्या साथ लेकर जाता है? संग न छोड़ने वाली छाया की भांति भला क्या उसके पीछे-पीछे जाता है?

उभो पुञ्ञञ्च पापञ्च, यं मच्चो कुरुते इध।
तञ्हि तस्स सकं होति, तञ्च आदाय गच्छति।
तञ्चस्स अनुगं होति, छायाव अनपायिनी॥

– मनुष्य जो पाप और पुण्य दोनों यहां करता है, वही उसके अपने होते हैं, उन्हें ही वह अपने साथ ले जाता है। संग न छोड़ने वाली छाया की भांति वही उसके पीछे-पीछे जाते हैं।

तस्मा करेय्य कल्याणं, निचयं सम्परायिकं।
पुञ्ञानि परलोकस्मिं, पतिट्ठा होन्ति पाणिनन्ति॥

– अतः अपना परलोक सुधारने के लिए कल्याण कर्म ही करें, शुभ कर्म ही करें। परलोक में पुण्य ही प्राणियों का आधार होता है।

सचमुच सत्कर्म से यह लोक भी सुधरता है, परलोक भी। दुष्कर्म से यह लोक भी बिगड़ता है, परलोक भी। अपने आप से प्यार करने वाले को, अपना भला चाहने वाले को दुष्कर्म से बचना चाहिए। सत्कर्म में लगना चाहिए। लोक और परलोक दोनों सुधारने चाहिए। इसी में सच्चा स्वार्थ समाया हुआ है, प्रबुद्ध स्वार्थ समाया हुआ है।

अतः साधको! आओ, स्वार्थी बनें, पर सच्चे स्वार्थी बनें। अंधस्वार्थी बन कर कहीं अपना अनर्थ न कर लें। प्रबुद्ध स्वार्थी बन कर अपना सही स्वार्थ साधें। अपना सही कल्याण साधें!

६. अपूर्व प्रेरणा

राजगृह के एक संपन्न सेठ के घर रमणीयविहारी नामक श्रेष्ठिपुत्र ने जन्म लिया। वह विलास-वैभव की विपुलता में पला। युवा अवस्था को प्राप्त होने पर यौवनमद में मूर्च्छित होकर काम-भोगों का स्वेच्छाचारी जीवन जीने लगा। एक बार उसने देखा कि उसी की भांति काम-व्यभिचार में अनुरक्त होने वाले एक राजपुरुष को काम-संबंधी मिथ्याचरण के कारण राज्य की ओर से घोर दंड दिया गया। इसे देख कर वह भयभीत हो उठा। आकुल-व्याकुल हो उठा। मानसिक शांति के लिए भगवान के विहार में गया और भगवान की धर्मवाणी सुन कर उत्साहित हो, वहीं प्रव्रजित हो गया। भगवान से विपश्यना साधना की अनुकूल विधि सीख कर एक निर्जन स्थान में जा कर अभ्यास करने लगा। परंतु बहुत प्रयास करने पर भी सफलता नहीं मिली। पूर्व स्वभाव के कारण बार-बार मन कामवासनाओं के चिंतन में ही विचरण करने लगता और जब होश आता तो पश्चात्ताप के पंक में डूबने लगता; पर साक्षीभाव से विपश्यना नहीं ही कर पाता। यों खिन्न-मन सड़क के किनारे, एक पेड़ के नीचे निराश बैठा हुआ था। उस समय उसने देखा कि किसी गाड़ी में जुता हुआ एक बैल ऊबड़-खाबड़ रास्ते के कारण ठोकर खा कर गिर पड़ा। गाड़ी वाले ने प्यार से उसे उठाया, गाड़ी के जुए से मुक्त करके कुछ देर विश्राम करने दिया, फिर कुछ चारा-पानी दे कर उसकी पीठ थपथपाई और पुनः गाड़ी में जोत दिया। वह अनुभवी बैल दुगुने उत्साह से फिर गाड़ी खींचने लगा और रास्ता ऊबड़-खाबड़ होते हुए भी उसे पार कर आगे बढ़ गया।

इस घटना को देख कर साधक रमणीयविहारी के मन में अपूर्व प्रेरणा जागी। वह बड़े उत्साह के साथ साधना में लग गया और इसी जीवन में उसने मुक्त अवस्था प्राप्त कर ली।

७. गिरो और उठो

नंदक और भरत अपने पूर्व पुण्यों के फलस्वरूप भगवान के जीवनकाल में चंपा नगरी के एक धनी गृहस्थ के घर जनमें। बड़े होने पर उन्होंने एक दिन सुना कि उसी नगरी का सोण नामक अत्यंत सुकोमल, सुकुमार और ऐशो-आराम में पला हुआ महाधनी-पुत्र अपना घरबार छोड़ कर भगवान के पास प्रव्रजित हो साधना करते हुए अरहंत अवस्था को प्राप्त हो गया है। यह सुन कर दोनों भाइयों के मन में अत्यंत धर्मसंवेग जागा और दोनों प्रव्रजित होकर विपश्यना-साधना के अभ्यास में जुट गये। बड़ा भाई भरत अपने सत्प्रयत्नों द्वारा थोड़े ही समय में सारे आस्रवों से छुटकारा पा कर अरहंत अवस्था को प्राप्त हो गया। परंतु छोटे भाई नंदक की राह में बहुत बाधाएं आईं यद्यपि उसने प्रयत्न तो बहुत किया परंतु अनेक जन्मों के संगृहीत विपुल कषायों के कारण एक-पर-एक बाधा आती रही, अंतराय आता रहा। शरीर की संवेदनाओं के आधार पर अनित्यबोध की प्रज्ञा नहीं जाग सकी। अतः नंदक बहुत निराश हो उठा। साधना करने का सारा उत्साह खो बैठा। भरत ने अपने भाई की यह दशा देखी तो उसके मन में पुनः उत्साह जगाने के लिए कुछ देर धर्मचर्चा करता रहा। साधना की विधि समझाते हुए वह अपने भाई के साथ ध्यान-केन्द्र के बाहर टहलने निकल गया। कुछ दूर जाने पर रास्ते के किनारे बैठ कर भाई को उत्साहित करने के लिए धर्म-प्रबोधनी बातें करता रहा।

इतने में देखा कि बैलगाड़ियों का एक कारवां चला आ रहा है और देखा कि उनमें से एक गाड़ी का चक्का गहरे दलदल में धँस गया है। बैल स्वयं भी घुटने-घुटने कींचड़ में धँसा हुआ गाड़ी चलाने का प्रयत्न करता रहा, पर असफल रहा और अंततः वहीं गिर पड़ा। गाड़ी वाले ने तुरंत बैल को जुए से खोल कर बाहर निकाला और दाना-पानी दे कर स्वस्थ किया। कुछ देर बाद पीठ थपथपा कर फिर गाड़ी में जोत दिया। बैल उत्तम जाति का था। प्रशिक्षित था। उसने अपना सारा बल लगाया और गाड़ी को दलदल के बाहर निकाल कर आगे बढ़ चला।

यह देख कर भरत ने भाई नंदक को कहा, "देखा, इस बैल के पुरुषार्थ को?

नंदक ने उत्तर दिया, "हां, देखा। जिस प्रकार यह पुरुषार्थी बैल अपने पूरे पराक्रम से गहरे दलदल से निकल सका, वैसे ही मैं भी अपना पूरा परिश्रम लगा कर इस भवसंसार के दलदल से बाहर निकलूंगा ही।"

और इस प्रसंग से असीम प्रेरणा पा कर नंदक विपश्यना में जुट गया। अब तक विफलता-ही-विफलता का सामना करने वाला निराश नंदक, अब परम उत्साह के साथ काम करता हुआ सफलतालाभी हुआ। विपश्यना के तेज से सारे बंधनों को जला कर पूर्णतया मुक्त हुआ, अरहंत अवस्था को प्राप्त हुआ। साधना सफल हुई। साधक धन्य हुआ।

विजय के हर्ष-उल्लास में नंदक ने इस प्रसंग को याद कर के ही यह वृषभनाद किया;

"सम्यक संबुद्ध का सम्यक दर्शन-संपन्न श्रावक उस भद्र जातीय वृषभ के समान ही है, जो कि किन्हीं कारणों से गिर पड़ने पर भी और अधिक संवेगबल से उठ खड़ा होता है और आगे बढ़ जाता है।"

८. जलधारा रुक गयी

कोशलदेश की राजनगरी श्रावस्ती। नगर का महाधनी श्रेष्ठि-परिवार। छोटे-बड़े अनेक कमरों वाली वैभव-संपन्न सात मंजिली विशाल अट्टालिका। इसमें केवल चार सदस्यों का यह छोटा सा श्रेष्ठि-परिवार रहे – सेठ, सेठानी, एक छोटा पुत्र और एक पुत्री। पुत्री किशोर अवस्था को पार कर मदमाते यौवन में पांव रख रही। घर में वैभव के सारे साधन। बाहर भी 'सर्व अस्ति' श्रावस्ती – आमोद-प्रमोद और खेल-तमाशों के आकर्षक मनोरंजनों से भरी हुई महामायानगरी। पिता को धन कमाने का नशा। रात-दिन इसी में मशगूल रहे। माता को अन्यान्य सामाजिक आयोजनों में उलझे रहने का शौक। बच्चों की जरा भी देखभाल नहीं, सार-सँभाल नहीं। छोटे पुत्र के लिए एक अलग नौकर रखा हुआ। युवा पुत्री की सेवा पर एक दूसरा युवा नौकर, जिसके बुरे संसर्ग ने उस अल्हड़ नवयौवना की उभरती उमर में वासना का ज्वार जगा दिया। पांव लड़खड़ाए और एक बार फिसली तो फिसलती ही चली गयी। उस विशाल हवेली में एकांत अनाचार की भरपूर सुविधाएं। दोनों पाप के कीचड़ में दिनों-दिन धँसते गये।

लड़की बीस वर्ष की हुई तो मां-बाप को उसके हाथ पीले करने की याद आयी। एक सुखी संपन्न प्रतिष्ठित परिवार के योग्य पुत्र से सगाई कर दी गयी। विवाह का दिन भी निश्चित हो गया। आज घर में बारात आने वाली है। यहां दोनों अनाचारियों को चिंता होने लगी। पराए घर जाने के बाद तो एक-दूसरे को देख भी न सकेंगे, शरीर-संबंध की बात तो दूर।

वासना के पंक पुतले को मिथ्या प्रेम का सुंदर चोंगा पहना कर और उस पर भ्रामक त्याग के भड़कीले आभूषण सजा कर दोनों ने अपने दुष्कर्मों का न्यायीकरण किया और भाग निकलने का फैसला किया। दोनों ने संकल्प किया – भले गरीबी में रहें, पर साथ रहेंगे। घर में बारात आने के पहले ही दोनों की पलायन-योजना सफल हुई। थोड़ा-बहुत जो भी धन-आभूषण बटोर सके, बटोर कर निकल भागे और नगर से दूर एक छोटे से गांव में जा बसे।

साथ लाया हुआ धन बहुत दिन काम न आ सका। पाप कर्मों का फल उदय होने लगा। अत्यंत विपन्न अवस्था में दिन बीतने लगे। दो वर्ष बाद युवती को गर्भ रह गया। जैसे-जैसे गर्भ बढ़ने लगा, वैसे-वैसे चिंता भी। ऐसी विपन्न अवस्था में कैसे प्रसव होगा? कैसे बच्चे की देखभाल होगी? मां-बाप की याद

सताने लगी। मेरे दुष्कर्म की वजह से उनकी प्रतिष्ठा धूल में मिली। वे इस कारण बहुत नाराज होंगे। पर मैं जा कर क्षमा मांगूंगी तो वे क्षमा कर ही देंगे। आखिर मां-बाप हैं न! शीघ्र पीहर जाने के लिए मन उतावला हो उठा। पति घबराया। उसे डर था कि श्रावस्ती जाने पर उसे बहुत बड़ा राज-दंड भोगना पड़ेगा। अतः वह चलने के लिए तैयार न था। आज कल, आज कल के बहाने बनाता हुआ टालने लगा। पति के मिथ्या आश्वासनों से निराश होकर गर्भ की बढ़ी हुई अवस्था में उस दुखियारी युवती ने अकेले ही जाने का फैसला किया। पति जब बाहर काम पर गया हुआ था तो पड़ोसिन को सूचना देकर श्रावस्ती की ओर निकल पड़ी। रास्ते में बियाबान वन था। पर थकी-मांदी निर्भय हो अकेली चली जा रही थी। घर लौटने पर पति को जैसे ही सूचना मिली, वह भी पीछे-पीछे दौड़ा आया। परंतु पत्नी वापस चलने के लिए तैयार नहीं हुई। लाचार पति भी उसके साथ हो लिया। राह चलते गर्भोत्थान हुआ और वहीं जंगल में एक पुत्र का जन्म हुआ। अब पति के बहुत आग्रह करने पर वह उसके साथ अपने घर लौट आयी।

इसी प्रकार दीन अवस्था में दो वर्ष और बीते। उसे फिर गर्भ रहा। फिर मां-बाप याद आने लगे। फिर पति उसी प्रकार बहाने बनाने लगा। टाल-मटोल करने लगा। अंत में उसने अकेली जाने का फैसला किया और बच्चे को गोद में लेकर गर्भ की बढ़ी हुई अवस्था में श्रावस्ती की ओर चल पड़ी। पति पीछे-पीछे दौड़ा हुआ आया और उसी प्रकार फिर निर्जन वन में गर्भोत्थान हुआ। प्रसव का समय आया। दुर्भाग्य से उसी समय आकाश में बिना मौसम की तेज आंधी उठी और उसके बाद घनघोर वर्षा होने लगी। कहीं सिर छुपाने की जगह नहीं। प्रसव-पीड़ा बढ़ती जा रही थी। उसे आश्रय की जरूरत थी। पति ने सोचा, वैभव में पली इस श्रेष्ठि-पुत्री की यह दुरवस्था मेरे ही कारण हुई। मुझे इसे आंधी-पानी से बचाने के लिए कुछ तो करना ही चाहिए। क्यों न कहीं से कुछ लकड़ियां काट लाऊं और सूखे पत्ते बटोर कर इसके लिए सिर छुपाने लायक एक पर्णकुटी बना दूं। उस काल अँधेरी रात में वह इस उद्देश्य से निकल पड़ा और रातभर लौटा नहीं। गर्भवती युवती पानी और कीचड़भरे राह पर पड़ी कराहती रही। उसका अरण्य-रोदन सुनने वाला कोई नहीं। कौन सहायता करे? ऐसी विकट स्थिति में फिर प्रसव हुआ। एक नन्हें से बच्चे को जन्म दिया। सुबह पौ फटने तक भी पति नहीं लौटा तो वह घबराई। दोनों बच्चों को छाती से चिपकाए, पति को ढूंढ़ने निकली। कुछ ही दूर गयी कि देखा उसके पति का शरीर अकड़ा और नीला हुआ पड़ा है। उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। उसे

किसी विषधर सांप ने डस लिया था। क्या करती? रोती, बिलखती, दोनों बच्चों को छाती से चिपकाए अकेली श्रावस्ती की ओर चल पड़ी।

प्रलयंकारी वर्षा रुकने का नाम नहीं ले रही थी। रास्ते के छोटे-छोटे नाले भी नदियों जैसे बन गये थे। छोटी-सी अचिरवती नदिया इस बाढ़ के मारे बहुत विशालकाय हो गयी थी। दो-दो बच्चों को लेकर एक साथ इस नदी को कैसे पार करे? अतः एक युक्ति लगायी। बड़े बच्चे को समझा-बुझा कर नदी के इसी तट पर छोड़ा और नवजात शिशु को लेकर नदी पार कर गयी। परले पार पहुँच कर नन्हें बच्चे को कपड़े में लपेट कर एक झाड़ी के नीचे लिटाया और अब बड़े को ले आने के लिए फिर नदी पार करने लगी। पर आंखें नवजात शिशु पर ही लगी थी। उसे कुछ हो न जाय। बीच मँझधार में पहुँची तो देखती है कि एक बहुत बड़ा गिद्ध शिशु को मांस का लोथड़ा समझ कर उस पर झपट रहा है। बच्चे को बचाने के लिए और गिद्ध को उड़ाने के लिए वह जोर-जोर से 'शू-शू' की आवाज करने लगी और अपने दोनों हाथ हिलाने लगी। गिद्ध पर इसका कोई असर नहीं हुआ। वह नवजात शिशु को अपने पंजों में दबोच कर उड़ गया। परंतु इसका बुरा असर इस पार बैठे बच्चे पर हुआ। उसने मां की आवाज सुनी और उसे जोरों से हाथ हिलाते देखा तो समझा कि मां मुझे बुला रही है। वह शीघ्रतापूर्वक नदी में कूद पड़ा और देखते-देखते तेज बहाव में बह गया। दुखियारी असहाय मां।

पति को सांप ने डस लिया, एक पुत्र को गिद्ध दबोच ले गया, दूसरे को नदी बहा ले गयी। अभागिन नारी रोती, बिलखती श्रावस्ती की ओर चल पड़ी। पर अभी उसे और दुर्दिन देखने थे। दुष्कर्मों का और फल पकना बाकी था। श्रावस्ती पहुँचने के पहले श्मशान घाट के पास से गुजरी तो देखा वहां चिता पर मुर्दे जलाए जा रहे हैं। श्रावस्ती से आते हुए एक राहगीर से प्रश्न किया तो पता चला कि रात के तेज आंधी-तूफान-मेह के कारण नगर के सेठ का सात मंजिला महल गिर पड़ा, जिसमें दब कर सेठ, सेठानी और उनका इकलौता पुत्र सभी मर गये। अरे! वही तो उसका बाप था, वही उसकी मां थी और वही उसका एकमात्र भाई था। चिता पर उन्हीं की लाशें जलायी जा रही थीं। इस दुःसंवाद से उस पर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ा। अब संसार में उसका कोई नहीं रह गया। वह अपना होश न सँभाल सकी। वहीं पछाड़ खा कर गिर पड़ी।

कुछ देर बाद उठी तो खोया हुआ होश खोया ही रहा, वापस नहीं आया। पूर्णतया विक्षिप्त हो गयी। एक-एक करके शरीर पर के सारे कपड़े गिरा दिये।

कुछ भी होश नहीं। पूर्ण नग्न श्रावस्ती की सड़कों और गलियों पर सिर धुनती, छाती पीटती, बिलखती फिरने लगी।

"हाय! मेरे पति को सांप डस गया! नन्हें को गिद्ध झपट ले गया! बड़े को नदी बहा ले गयी! मां, बापू, भाई दब कर मर गये और एक साथ चिता पर जलाए गये!" लोग उसका करुण विलाप सुनते। दुःखी होते, पर क्या करते! उसकी पागलों की सी हरकतें देख कर अपने घर के किवाड़ बंद कर लेते। कोई उसे पास नहीं आने देता। "पगली-पगली" कह कर बच्चे उसके पीछे दौड़ते, उस पर ढेले फेंकते, धूल फेंकते।

ऐसी विपन्नावस्था में अपने पूर्व पुण्य के कारण वह एक दिन जेतवन विहार के पास से गुजरी। वहां भगवान एक बड़ी सभा को धर्म समझा रहे थे। लोगों ने उसे आते देखा तो दूर भगाना चाहा। कहीं यह पगली औरत धर्मसभा की शांति में विघ्न न पैदा कर दे। परंतु भगवान की नजर उस दुखियारी पर पड़ी तो लोगों को रोका। दुखियारी भगवान के समीप आयी। भगवान ने करुणाभरे शब्दों में कहा, "मेरी दुखियारी बेटी! होश सँभाल!" वाणी में अमृत भरा था। सुनते ही उस दुखियारी को जरा-सा होश आया। उसका ध्यान अपने सर्वथा नग्न शरीर पर गया तो लाज के मारे सिकुड़ गयी। वहीं उकड़ूं बैठ गयी। समीप खड़े किसी भाई ने उस पर अपनी चादर डाली। उसने तुरंत चादर ओढ़ ली। विक्षिप्त अवस्था में सभी वस्त्रों को त्याग देने के कारण इस चादर ओढ़ी हुई दुखियारी का नाम 'पटाचारा' पड़ गया। लोग उसका पूर्व नाम ही भूल गये।

पटाचारा भगवान के और समीप आयी और अपने दोनों पांव, दोनों हाथ और सिर धरती को छुआ कर पंचांग प्रणाम करती हुई बोली, "भंते भगवान! मुझे शरण दीजिए, मैं बहुत दुखियारी हूं।"

"बेटी! तू सही शरण-स्थान पर आ गयी है। तुझे यहां अवश्य शरण मिलेगी।" भगवान ने आश्वासन भरे शब्दों में कहा।

"भंते भगवान! मेरे पति को काले नाग ने डस लिया। एक पुत्र को गिद्ध दबोच ले गया। दूसरे को नदी बहा ले गयी। माता-पिता, भाई दब कर मर गये। उन्हें एक साथ चिता पर जलाया गया। अब संसार में मेरा कोई नहीं। मुझे कौन शरण देगा?"

अपने दुःखों को याद कर पटाचारा फिर फूट-फूट कर रोने लगी।

"बेटी, होश में आ। माता-पिता, भाई-बंधु, पति-पुत्र शरण नहीं दे सकते। सही शरण तो अपना धारण किया हुआ धर्म ही देगा। तू कौन से प्रिय स्वजनों की मृत्यु पर दुःख के आंसू बहा रही है? इस अनादि भव संसार में तूने

अनगिनत बार जन्म लिया है। सभी जन्मों में तेरे प्रिय स्वजन मरे हैं। उनके मरने पर तूने जितने आंसू बहाये हैं, यदि एक जगह एकत्र कर दिये जायँ तो इन चारों महासमुद्रों का जल भी उसके मुकाबले कम होगा। और कितने जन्मों तक इसी प्रकार प्रिय-वियोग में रोती रहोगी? प्रमाद छोड़! होश में आ! समझदार को चाहिए कि इस असीम दुःखमय भवसागर की सच्चाई को समझ कर शीघ्र-से-शीघ्र मुक्ति का मार्ग खोजे। सदा के लिए दुःख-विमुक्त हो जाय।"

भगवान की वाणी से अमृत बरसा। योग्य पात्र ने उसे ग्रहण किया। भगवान की वाणी सुनते-सुनते उस दुखियारी का चित्त एकाग्र हुआ। थोड़ी देर के लिए स्वमुखी हुआ, अंतर्मुखी हुआ। शरीर के अणु-अणु में उदय-व्यय की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। अनेक जन्मों की असीम पुण्य पारमी के कारण इस अनित्य बोध की धर्मगंगा में सारे पाप ताप धुलने लगे। वहीं बैठे-बैठे पटाचारा ने निर्वाण अवस्था का साक्षात्कार किया। स्रोतापन्न हुई।

कृतज्ञता-विभोर हो भगवान को नमस्कार किया और उनसे प्रव्रज्या की याचना की। भगवान ने उसे भिक्षुणियों के पास भेज कर प्रव्रजित करवाया और पटाचारा मुक्ति के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हुई।

जो भव संस्कार बचे थे, उनका सामना करना था। उन्हें भी अंतर्तप करते हुए विपश्यना की अग्नि में जलाना था। काम करने में कठिनाइयां आ रही थीं। कभी-कभी अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए स्वजनों, प्रियजनों की फिर याद आ जाती थी। एक दिन सायंकाल दृढ़ चित्त से साधना की तैयारी में लगी। बाल्टी से लोटा भर जल लेकर अपने पांव धोए। सूखी जमीन पर बहता हुआ जल कुछ ही दूर जा कर सूख गया। आगे न बढ़ पाया। एक लोटा पानी पांव पर और डाला। इस बार जलधारा पहले की अपेक्षा कुछ और दूर जा कर सूख गयी। तीसरी बार पांव पर पानी डाला तो जलधारा कुछ और दूर जा कर सूख गयी।

इस छोटी-सी घटना ने भीतर के ज्ञानतंतुओं को झकझोर दिया। मोहजन्य अज्ञान का पर्दा दूर हुआ। जैसी जलधारा वैसी ही जीवनधारा। इस संसार में किसी-किसी की जीवनधारा कम उम्र में ही सूख जाती है। किसी-किसी की मँझली उम्र में और किसी-किसी की बढ़ी उम्र में। पर मरते तो सभी हैं। कोई नहीं बचता। इस मरणानुस्मृति के आधार पर साधना करने बैठी। उसी समय भगवान के अमृतभरे बोल कानों में गूंज उठे;

यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं उदयब्बयं।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो उदयब्बयं॥

– उदय-व्यय की सच्चाई को विपश्यना द्वारा देखे बिना कोई भले सौ वर्ष भी जीयें, पर उसके मुकाबले उदय-व्यय को देखते हुए एक दिन का जीना भी अधिक श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है।

धर्मवाणी सुन कर साधिका पटाचारा का रोम-रोम रोमांचित हो उठा। मैंने जीवन के पच्चीस वर्ष अपने भीतर उदय-व्यय का दर्शन किये बिना ही गँवा दिये। अब भगवान की असीम अनुकंपा से इस सत्य का साक्षात्कार हुआ है। इसी सत्य के प्रति साक्षीभाव रखने से मुझे निर्वाण के प्रथम दर्शन हुए थे। इसी उदय-व्यय का निरंतर दर्शन करते-करते आगे की अवस्थाएं प्राप्त होंगी। किसान खेत में परिश्रम करता है। जोतता है, बोता है तो फल प्राप्त करता है। मैं शुद्ध शील में प्रतिष्ठित बुद्ध-पुत्री उनके बताए मार्ग पर अप्रमत्त हो पुरुषार्थ करूं तो परम मुक्त अवस्था प्राप्त कर ही लूंगी। यों दृढ़ निश्चय करके अपनी कुटिया में विपश्यना करने बैठी।

समीप जलते हुए दीपक की लौ मंद पड़ने लगी तो सुई से ठीक करने की कोशिश की, परंतु इससे लौ बुझ गयी। फिर अंतर्बोध जागा। जिस प्रकार इस दीपक की लौ बुझी, उसी प्रकार मेरे राग, द्वेष और मोह के संस्कारों की लौ बुझेगी और मनुष्य-जीवन सार्थक होगा।

पटाचारा अधिक दृढ़ चित्त से विपश्यना में लग गयी। शरीर और चित्त के प्रपंच को उसके अनित्य स्वभाव में तटस्थ भाव से देखते-देखते अंतर्मन पर पड़ी हुई भव-संस्कारों की परतें उतरने लगीं और रात बीतने के पहले ही वह स्रोतापन्न से सकदागामी, सकदागामी से अनागामी और अनागामी से अरहंत अवस्था तक जा पहुँची। भवचक्र टूटा। नितांत विमुक्ति मिली। मनुष्य-जीवन सफल हुआ; सार्थक हुआ।

पटाचारा भगवान की प्रमुख शिष्याओं में-से एक हुई। जिन थोड़े से भिक्षु-भिक्षुणी, गृहस्थ पुरुष-नारियों को भगवान ने अग्र की उपाधि दी, उनमें से पटाचारा भी एक थी। भिक्षुणियों के विनय नियमों को अच्छी तरह जानने और उनका पालन करने वाली साध्वियों में पटाचारा अग्रगण्य मानी गयी। उसने अपना संपूर्ण शेष जीवन अपनी जैसी दुखियारी नारियों को धर्म के मार्ग पर आरूढ़ कर दुःख-मुक्त कराने में ही बिताया। अपने कल्याण के साथ-साथ अनेकों के कल्याण का कारण बनी। पटाचारा विपश्यना को और विपश्यना पटाचारा जैसी भिक्षुणी को पा कर धन्य हुई।

९. चुटकी भर सरसों

श्रावस्ती नगरी। अत्यंत निर्धन और समाज में नीचे माने जाने वाले कुल में जनमी एक दुखियारी युवती। नाम गोतमी तिस्स (तिष्या)। परंतु शरीर से अत्यंत दुबली-पतली कृशकाय होने के कारण घर वाले उसे गोतमी तिस्सा की जगह गोतमी किसा (कृशा) कहने लगे। धीरे-धीरे आसपास के लोगों में भी 'किसा गोतमी' के नाम से ही प्रसिद्ध हो गयी।

किसी कर्म-संयोग के कारण उसका विवाह श्रावस्ती के एक उच्च जाति वाले धनी परिवार के सुयोग्य पुत्र से हो गया। धनधान्य से भरापूरा संपन्न परिवार और सुंदर स्वस्थ प्रेमल पति। लगा, दुखियारी के दुःखों का अंत हुआ। किसा गोतमी का भाग्य फिरा। परंतु वस्तुतः ऐसा हो नहीं पाया। पति का अपार स्नेह पा कर भी उसने देखा कि परिवार के अन्य लोग उससे बेहद नाखुश हैं। दिन-रात सब की सेवा में रत रहने पर भी परिवार वालों के मन में उसके प्रति अपार घृणा भरी है। एक तो गरीब की कन्या, तिस पर नीचे कुल की। जैसे कोढ़ में खाज हो गयी। जाति, धन के भेदभाव से दूषित सड़ी-गली सामाजिक व्यवस्था का भूत परिवार के लोगों के सिर पर बुरी तरह सवार। इसलिए संबंध तो हो गया, परंतु परिवार वाले उसे स्वीकार नहीं सके। उनके ताने सुनते-सुनते बेचारी का हृदय छलनी हो गया। इससे अच्छा तो किसी गरीब घर में ब्याही जाती, किसी नीच माने जाने वाले कुल में ब्याही जाती। यह सारी धन-संपदा किस काम की? घृणा और तिरस्कार का जीवन जीना दूभर हो गया। एकमात्र पति का प्यार ही उसके जीवन का संबल सहारा था।

विवाह के बाद कुछ वर्षों तक उसको कोई संतान नहीं हुई। इस स्थिति ने परिवार में उसके लिए और तिरस्कार जगाया। कुल का एकमात्र पुत्र निःसंतान रह जायगा तो वंश कैसे चलेगा? कैसी पुण्यहीना बहू घर में आयी? पुण्यशालिनी होती तो ऐसे खानदान में ही क्यों जनमती? और फिर इतने ऊंचे कुल में ब्याही जा कर भी निपूती क्यों रहती? यह सचमुच भाग्यहीना है। इस अभागिन की वजह से हमारे कुल का वंश नहीं चलेगा। इस प्रकार के अंगार जैसे बोल उसके तन-मन में विषाद की ज्वाला जलाते रहते। पर बेचारी असहाय। क्या करती? चुपचाप आंसू ढलकाती और सब कुछ सहती रहती।

परंतु कुछ दिन बीतने के बाद उसके दिन फिरे। उसे गर्भ रहा और दस मास पूरे होने पर उसने एक सुंदर पुत्र-रत्न को जन्म दिया। सहसा जीवन में रौनक आ गयी। परिवार में पुत्रवती वधू का आदर होने लगा। सब की मनोकामना पूरी हुई। उसने वंश चलाने के लिए परिवार को सुंदर पुत्र जो दिया। जैसे-जैसे पुत्र बढ़ने लगा, उसकी किलकारियों ने घर के वायुमंडल में खुशियों का माहौल भर दिया। सभी उसे गोद में उठाए फिरने के लिए लालायित रहते। अब घर वाले भूल गये कि बच्चे की मां नीच कुल की और गरीब खानदान की है। वह गृहलक्ष्मी का-सा सम्मान-सत्कार पाने लगी।

पालने में झूलने वाला बच्चा अब घुटनों के बल चलने लगा। उसकी अठखेलियां सब का मन मोहने लगीं। अब वह खड़ा होने लगा। डगमगा कर दो-चार पग चलने भी लगा। उसकी बालसुलभ हरकतें सारे परिवार का मोद बढ़ातीं। घर के आंगन में आनंद की फुलझड़ियां फूट पड़तीं। किसा गोतमी अपने भाग्य को सराहती। बच्चे को गोद में ले कर प्यार से चूम लेती। इसी लाड़ले की वजह से उसके दिन फिरे। उसके दुःख दूर हुए।

परंतु खुशियों के दिन बहुत शीघ्र पूरे हुए। एक दिन किसा गोतमी की खुशियों पर बिन बादल आकाश से बिजली गिरी। घर के बाहर बगीचे में खेलते हुए नन्हें से बच्चे को विषधर काला नाग डस गया। देखते-देखते हँसने मुस्कराने वाला चेहरा नीला पड़ गया। शरीर निश्चल हो गया। सांस रुक गयी। हृदय की धड़कन बंद हो गयी। घर वालों ने बहुत भाग-दौड़ की। दवा-दारू की। जंतर-मंतर करवाए। पर कुछ काम न आया। बच्चे के प्राण-पखेरू उड़ गये। घर में हाहाकार मच गया। किसा गोतमी के दुःख का ठिकाना नहीं। हर मां अपने इकलौते पुत्र पर आसक्त रहती है। पर किसा गोतमी के लिए तो सुख का एकमात्र आधार यह बालक ही था। इसी के कारण उसके दिन फिरे थे। अब क्या होगा? वह दुःख के मारे पागल हो उठी।

जब लोगों ने कहा कि बच्चे के शव को श्मशान ले जा कर दफनायेंगे तो यह बोल उसके हृदय में भाले की तरह चुभ गये। ये लोग मेरे बच्चे को घर से बाहर निकाल देंगे। मैं ऐसा कदापि नहीं होने दूंगी। उसने बच्चे की लाश को कस कर छाती से चिपका लिया। करुण क्रंदन करने लगी, "नहीं, मेरा लाल अभी मरा नहीं है। जहर के नशे में केवल बेहोश हो गया है। गहरी नींद में सो गया है। कोई इसे होश में ला दे। कोई इसे जगा दे। यदि सचमुच प्राण निकल भी गये हैं तो कोई ऐसी औषधि लाये जिससे प्राण वापस आ जायँ। यदि तुमसे

नहीं होता तो मैं कहीं से मांग कर लाऊंगी, अपने लाल को जगाऊंगी।" वह बच्चे को छाती से चिपकाए विक्षिप्त अवस्था में घर से निकल पड़ी। घर-घर लोगों से याचना करती। राह में जो मिले उसी से पल्ला पसार कर भीख मांगती, "मुझे कोई दवा दे दो, जिससे मेरा लाल जाग जाय। इसकी बेहोशी दूर हो जाय। यह मरा नहीं है।"

लोग उसे समझाते, "माई, यह मर गया है। अब कोई औषधि काम नहीं आ सकती। टूटी की बूटी नहीं होती।" यह सुन कर वह और पागल हो उठती। बच्चे की लाश को जोरों से छाती से चिपकाती और किसी दूसरे के सामने दवा की भीख मांगती।

उसकी ऐसी दशा पर एक भाई को बहुत दया आयी तो उसने कहा, "माई, कोई सामान्य वैद्य इसके लिए औषधि नहीं दे सकता। इस समय लोक में महाभिषक, महावैद्य बुद्ध उत्पन्न हुए हैं। शहर के बाहर उनका जेतवन विहार है। भगवान इन दिनों वहीं टिके हैं। उनके पास जा। वे तुझे उचित औषधि अवश्य देंगे।"

उत्साह से भरी किसा गोतमी दौड़ती हुई जेतवन विहार पहुँची। भगवान उस समय साधकों को साधना की बारीकियां समझा रहे थे। आकुल-व्याकुल किसा गोतमी बिना रुके भगवान के समीप पहुँच गयी और बच्चे की लाश भगवान के चरणों के पास रख कर फूट-फूट कर रोने लगी।

"भंते भगवान! लोग मुझसे मेरा लाल छीन लेना चाहते हैं। यह मरा नहीं है, भगवन! यह सो गया है, बेहोश हो गया है। आप इसे जगा दें, आप इसे होश में ला दें।"

"बेटी! यह निष्प्राण है।"

किसा को धक्का लगा। वह फफक-फफक कर रोने लगी और बोली, "यदि निष्प्राण है तो भी भगवन! आप तो महाभिषक हैं। किसी ने कहा, आपके पास संजीवनी औषधि है। मेरे बच्चे में नया प्राण फूंक दें। इसे औषधि अवश्य दें।"

भगवान ने देखा, ऐसी भावावेशभरी विक्षिप्त अवस्था में यह धर्म की कोई बात समझने लायक नहीं है। भगवान ने यह भी देखा कि पटाचारा की तरह यह भी अपने पूर्व जीवन में भगवान काश्यप बुद्ध की सात बहनों में-से एक रही है और उनके पास खूब तपी है। प्रभूत पुण्य पारमिताएं अर्जित की हैं। इस

समय अपने किसी दुष्कर्म का फल भोग रही है। परंतु अब इसकी दु:ख-विमुक्ति का समय आ गया है।

भगवान ने शांत गंभीर वाणी में करुणा की मंदाकिनी बहाते हुए कहा, "हां, बेटी! कहने वाले ने ठीक ही कहा है। मैं भिषक ही हूं, वैद्य ही हूं। तुम्हें उचित औषधि दूंगा।"

"दीजिए भगवन! मैं आपका उपकार कभी नहीं भूलूंगी।" किसा के चेहरे पर आशा की किरण चमकी।

"नगर में जा कर चुटकी भर सरसों के दाने मांग ला।"

"अभी ले आती हूं, भगवन!"

यों कह कर किसा शीघ्रतापूर्वक उठी और जाने को उद्यत हुई।

"परंतु देखना, ऐसे परिवार से लाना, जिसमें आज तक कोई न मरा हो।"

"हां-हां भगवन! ऐसे ही परिवार से लाऊंगी।"

बच्चे को छाती से चिपकाए वह नगर की ओर बेतहाशा भागी। अब मेरा बच्चा अवश्य जी उठेगा। जो पहला घर दिखा, वहीं जा कर अपनी दु:खद कहानी सुनायी और चुटकी भर सरसों मांगी। घर वालों ने सहानुभूति-पूर्वक कहा, "माई, तेरा लाल जी उठे। चुटकी भर क्या? चाहे तो मन भर सरसों ले जा।"

"परंतु तुम्हारे यहां कोई मरा तो नहीं न!"

यह सुन कर घर वालों का मुँह उतर गया। "मरा कैसे नहीं, माई! हमारे परिवार में तो अनेक मरे हैं।"

यों एक-एक घर चुटकी भर सरसों की भीख मांगती हुई, किसा गोतमी नगर के मोहल्ले-मोहल्ले, गली-गली में भटकती फिरी। उसे एक भी ऐसा परिवार नहीं मिला, जिसमें कोई मरा न हो। दिन भर की थकी-मांदी शाम होते-होते होश में आ गयी। बात समझ में आ गयी। घर-घर में लोग मरते हैं। बच्चे भी, जवान भी, बूढ़े भी, नर भी, नारी भी। नगर में जीवित लोगों की संख्या के मुकाबले मरने वालों की संख्या अधिक है। यह इतने सारे लोग अपने-अपने प्रियजनों के मरने पर मेरी तरह पागल नहीं हो उठे। मरना जीना किसी के बस की बात नहीं। भगवान ने यह सत्य समझाने के लिए ही मुझे चुटकी भर सरसों के दाने लाने को कहा।

बात तो बहुत साधारण थी। केवल चुटकी भर दानों की मांग, परंतु यही उस दुखियारी के हृदय में धर्म की चेतना जगाने के लिए प्रेरणा का पर्याप्त कारण बन गयी। उसका होश जागा। होश जागते ही बच्चे की लाश दफनाने के लिए छोड़ी और जेतवन आश्रम में भगवान के पास आश्रय पाने के लिए चली आयी।

भगवान ने उसे आते देखा तो पूछा, "क्यों, बेटी! सरसों के दाने मिले?"

"नहीं भगवन! दाने तो नहीं मिले, पर खोया हुआ होश मिल गया। हर जन्म लेने वाले का मरना निश्चित है। पहले-पीछे सभी मरते हैं। कोई रुक नहीं सकता।"

भगवान ने देखा, अब इसकी मनःस्थिति धर्म समझने लायक है। उसे धर्मदेशना दी। सारे वातावरण को विमल प्रशांत धर्म-तरंगों से आप्लावित करते हुए भगवान बोले, "मृत्यु सभी प्राणियों का अनिवार्य धर्म-स्वभाव है। केवल गांव वालों का नहीं, केवल नगर वालों का नहीं, केवल एक कुल के लोगों का ही नहीं, यह तो देवताओं समेत सभी लोगों का धर्म-स्वभाव है। सभी अनित्यधर्मा हैं, सभी मरणधर्मा हैं। इस सच्चाई को जो नहीं समझते, वे पुत्रों, पशुओं और धन-संपत्तियों के प्रति आसक्त रहते हैं। मोह-मूढ़ता में बेहोश रहते हैं और जन्म-जन्मांतरों तक बार-बार मृत्यु के चंगुल में पड़ते रहते हैं। जैसे नदी में एकाएक आयी हुई बाढ़ गहरी नींद में सोये हुए गांव को बहा कर ले जाती है, वैसे ही इन प्रमत्त-आसक्त लोगों को बार-बार मृत्यु बहा कर ले जाती है।

"कोई इस मोह-निद्रा से जागे, अपने भीतर अनित्यबोध जगाये, उदय-व्यय का दर्शन करे तो ही जन्म-जन्मांतरों के मृत्यु-दुःख से सदा के लिए मुक्त हो सकता है।

"सौ वर्षों तक बिना उदय-व्यय का दर्शन किये जीने की अपेक्षा उदय-व्यय का दर्शन करते हुए केवल एक दिन का जीवन ही अधिक श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है।"

महाकारुणिक की धर्मवाणी का अमृतरस कानों में पड़ते-पड़ते किसा गोतमी का अनेक जन्मों का संगृहीत पुण्यफल जागा। शरीर के अणु-अणु में धर्म-चेतना जागी। वह एकाग्रचित्त हुई, स्वमुखी हुई, अंतर्मुखी हुई। "उदय-व्यय, उदय-व्यय" इस अनित्य धर्म का अपने भीतर सम्यक दर्शन हुआ। उदय-व्यय, उदय-व्यय का दर्शन करते-करते उत्पाद-निरोध का दर्शन हुआ। विरज-विमल धर्म-चक्षु खुले और चंद क्षणों के लिए वहीं उसी अवस्था में

निर्वाण का साक्षात्कार हुआ। किसा धन्य हुई। स्रोतापन्न अवस्था में प्रतिष्ठित हुई। नितांत दु:ख-विमुक्ति के मार्ग पर प्रतिष्ठित हुई।

श्रद्धा और कृतज्ञता-विभोर हो उसने भगवान से प्रव्रज्या की याचना की। भगवान ने अनुमति दी। किसा गोतमी ने आदरपूर्वक भगवान की तीन बार प्रदक्षिणा की, उन्हें नमस्कार किया और भिक्षुणी विहार में जा कर प्रव्रज्या ग्रहण की।

अब उसके दिन भगवान के सान्निध्य में साधना करने में बीतने लगे। भगवान की धर्मवाणी मन के बचे हुए मैल उतारने में सहायक सिद्ध हुई। वह बहुत दत्तचित्त हो विपश्यना-साधना में जुट गयी। एक दिन साधना करते हुए भगवान की अमृतवाणी उसके कानों में गूंजी;

यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं अमतं पदं।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो अमतं पदं॥

– अमृत पद निर्वाण का साक्षात्कार किये बिना कोई भले सौ वर्ष का जीवन जी ले, परंतु उसके मुकाबले अमृतपद निर्वाण का साक्षात्कार करने वाले का एक दिन का जीवन भी अधिक श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है।

इन प्रेरणाभरे शब्दों ने किसा गोतमी के मन में धर्म-संवेग जगाया। मैंने क्षणभर निर्वाण का साक्षात्कार कर स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त की, परंतु नितांत विमुक्ति के लिए अरहंत की निरोध समापत्ति वाली निर्वाणिक अवस्था का साक्षात्कार करना होगा। तभी आवागमन के भवचक्र से छुटकारा मिलेगा। इस प्रेरणा से प्रेरित होकर दृढ़ पराक्रम से विपश्यना करते हुए उसने क्रमश: सकदागामी, अनागामी और अरहंत फल प्राप्त किया। साधना सफल हुई। भवबंधन खुले। साधिका जीवनमुक्त हुई।

किसा गोतमी भगवान की प्रमुख शिष्याओं में से एक हुई। भिक्षुणियों का जीवन अत्यंत सादगी का जीवन। पर उन भिक्षुणियों में भी सब से अधिक सादगी का जीवन जीने वाली किसा गोतमी को भगवान ने मोटे, रूखे चीवर धारण करने वालियों में अग्र होने का पद प्रदान किया।

परम भिक्षुणी किसा गोतमी ने अपना शेष जीवन लोकसेवा में ही बिताया। कितनी ही दुखियारी नारियां उसकी प्रेरणा और मार्गदर्शन से दु:ख-विमुक्ति के मार्ग पर चलीं। किसा गोतमी के करुणाभरे चित्त ने नारियों के दु:ख को खूब समझा। कितने प्रकार के दु:ख? उपयुक्त वर और ससुराल न

मिले तो दुःख। सपत्नी हो तो दुःख। संतान न हो तो दुःख। हो तो गर्भ पालने का दुःख। प्रसव का दुःख। संतान के लालन-पालन का दुःख। संतान दुराचारी हो जाय तो दुःख। संतान हो कर मर जाय तो दुःख। स्वयं दुराचारिणी हो जाय तो दुःख। अपने पूर्व-जन्म की बहन पटाचारा का उदाहरण याद आया। दुराचरण के कारण पति, दोनों संतानों और मां बाप तथा भाई के मरने का असीम दुःख सहना पड़ा उसे। इस लोक-चक्र में दुःख-ही-दुःख। जिस कल्याणकारी मार्ग को पा कर किसा स्वयं दुःखों से मुक्त हुई, वही औरों को बांटने लगी।

कभी अपने भूतकाल का सिंहावलोकन करती तो भगवान के प्रति कृतज्ञता के भावों से विभोर हो उठती। "मैं कितनी भाग्यशालिनी हूं कि मुझे भगवान तथागत जैसे कल्याणमित्र मिले। कल्याणमित्र की संगत मिलती है तो जीवन मंगल से भर उठता है। दुर्जन-से-दुर्जन व्यक्ति इस सत्संगति से सज्जन हो जाता है। दुखियारा दुःख विमुक्त हो जाता है। वह दुःख का भोगना छोड़ कर दुःख का दर्शन कर लेता है। दुःख के मूल कारण का दर्शन कर लेता है। दुःख-विमुक्ति के मार्ग पर स्वयं चल कर उसका दर्शन कर लेता है और इस प्रकार नितांत दुःख-निरोध अवस्था परमपद निर्वाण का दर्शन कर लेता है।

"मुझ जैसी दुखियारी ने इसी एक जीवन में नहीं, अनगिनत पूर्व जन्मों में भी कितने दुःख झेले हैं। न जाने मेरे कितने प्रियजन मरे हैं। इन मृत प्रियजनों की हड्डियां एक जगह एकत्र कर दे तो हिमालय जैसा पहाड़ खड़ा हो जाय। इनके मरने पर मैंने जितने आंसू बहाये हैं, उन्हें एक जगह एकत्र कर दे तो सभी समुद्रों के जल से अधिक हो जाय।

"महाकारुणिक की सत्संगति के कारण ही मेरे सारे दुःख दूर हुए। मैंने शील, समाधि और प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चल कर धर्म के दर्पण में परम सत्य का साक्षात्कार किया। जन्म-जन्म के बोझ उतर गये। हृदय में चुभा हुआ मर्मभेदी पीड़ादायी तृष्णा का तीर निकल गया। मैं कृतकृत्य हुई, विमुक्त हुई, धन्य हुई।"

ऐसा कल्याणकारी मार्ग सब को मिले!
ऐसी मुक्तिदायिनी प्रेरणा सब में जागे!

१०. वस्त्राभूषण की गठरी

भगवान गौतम बुद्ध ने सम्यक संबोधि प्राप्त कर ऋषिपत्तन मृगदाय में पहला वर्षावास किया। वहीं साठ साधकों को अरहंत अवस्था तक की साधना करवा कर बहुजन-हितसुख के लिए उन्हें विभिन्न दिशाओं में भेजा। स्वयं भी पूर्व की ओर चल पड़े। गया के काश्यप बंधुओं को मिथ्या कर्मकांडों से मुक्ति दिला कर मुक्तिदायिनी साधना सिखाई और अपना पूर्व वचन निभाने के लिए मगध नरेश को धर्म सिखाने राजगृह गये। महाराज बिंबिसार शुद्ध धर्म के सात्त्विक मार्ग से प्रभावित हो कर भगवान के अनुयायी हो गये। महाराज शुद्धोदन को अपने पुत्र की अमूल्य उपलब्धि और सफलता की सूचना मिली तो वे भाव-विभोर हो उठे। उन्होंने पुत्र को कपिलवस्तु आमंत्रित किया। भगवान बहुत बड़ी संख्या में भिक्षुओं को साथ ले कर लोक-कल्याणहित कपिलवस्तु गये। कपिलवस्तु के शाक्यवंशी भगवान के उपदेशों से अत्यंत प्रभावित हुए। बहुत बड़ी संख्या में सद्धर्म के पथ पर आरूढ़ हुए। गृही जीवनकाल का छोटा भाई राजकुमार नंद प्रव्रजित हुआ। पुत्र राहुल प्रव्रजित हुआ।

कुछ दिनों पश्चात भगवान ने शाक्यदेश छोड़ कर समीप के मल्लदेश की ओर प्रस्थान किया। मल्लों के अनुपिया नामक कस्बे में कुछ दिनों तक रुके। भगवान के चले जाने के बाद भी कपिलवस्तु में उनके धर्मोपदेश की बहुत चर्चा होती रहती थी। लोगों में साधना के प्रति धर्म संवेग जागता रहता था। अनेक शाक्य राजकुमार घरबार छोड़ कर भिक्षु बन कर साधना के लिए भगवान के साथ चले गये थे। जो बचे, उनमें भी सद्धर्म के प्रति रुचि जाग रही थी। उनमें से छह राजवंशियों ने मल्ल देश जा कर भगवान की शरण ग्रहण करने का निर्णय किया। शाक्य राजा भद्दिय, राजकुमार अनिरुद्ध, आनंद, भगु, किंबिल और देवदत्त, राजसेवक उपालि को साथ ले कर अनुपिया की ओर चल पड़े। उपालि राजघराने का नाई था। चिरकाल से राजघराने की सेवा किया करता था। गृही राजकुमार सिद्धार्थ गौतम के भी बाल काटता और उन्हें सजाता सँवारता था। रास्ते में सेवा-टहल के लिए राजपुत्रों ने उपालि को साथ ले लिया था।

अपने राज्य की सीमा को पार कर जब मल्ल राज्य की सीमा में पांव रखा तो छहों राजपुत्रों ने अपने-अपने कीमती वस्त्राभूषण उतार दिये और

गृहत्यागियों के अनुरूप सादे बाने पहन लिये। उन मूल्यवान वस्त्राभूषणों की एक गठरी बनाई और नाई उपालि को देते हुए कहा, "भणे, यह तुम्हारे लिए है। जीवन-निर्वाह के काम आएगी। इसे ले कर अब तुम लौट जाओ। हम भगवान गौतम बुद्ध के पास प्रव्रजित होने जा रहे हैं।"

उपालि अवाक रह गया। इतने आभूषण। उसके अपने ही नहीं, आगे की एक दो पीढ़ियों के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त थे। प्रसन्नचित्त उपालि मालिकों को नमस्कार कर लौट चला। थोड़ी दूर चलने पर उसे होश आया – जब घर लौटूंगा तो लोगों को संदेह होगा कि कहीं राजपुत्रों की हत्या करवा कर तो मैंने यह मालमत्ता नहीं हथिया लिया। शाक्यवंशी बड़े चंड स्वभाव के होते हैं। इसी संदेहवश मुझे सूली पर चढ़ा सकते हैं। मेरा सिर उतार सकते हैं। ना बाबा ना, ऐसा धन मुझे नहीं चाहिए। मैं अपनी सामान्य मेहनत-मजदूरी द्वारा ही पेट पालूंगा। यह वस्त्राभूषण मेरे काम का नहीं। वह गठरी राह के एक पेड़ की शाखा पर लटका दी और उस पर एक सूचना लिख कर चिपका दी "यह गठरी जिस राहगीर को मिले, उसी की है। वह इसका निःसंकोच उपभोग करे।"

इतनी मूल्यवान गठरी जिस किसी को प्राप्त होगी, वह निहाल हो जायगा। अपना भाग्य सराहेगा। यों प्रमुदित चित्त से शाखा पर टंगी उस गठरी को देखते हुए उपालि के मन में एक बात बिजली की तरह कौंधी – "ये सुख-संपदा संपन्न राजपुत्र केवल यही वस्त्राभूषण नहीं, प्रत्युत राजघराने के सारे ऐश्वर्य-आराम को, विलास-वैभव को त्याग कर भिक्षु का जीवन जीने जा रहे हैं। अवश्य ही उस अकिंचन जीवन में राजवैभव से कहीं अधिक सुख होगा। भगवान बुद्ध जितने दिन राजनगरी कपिलवस्तु में रहे, उनकी बड़ी कीर्त्ति-प्रशंसा सुनी। अवश्य ही उनका मार्ग परम सुख का मार्ग है। मुझे भी घरबार छोड़ कर उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।"

राजपुत्रों द्वारा त्यागी इस गठरी ने उपालि नाई के मन में तीव्र धर्म-संवेग जगाया। वह उल्टे पांव तेज गति से लौट आया और उन छहों राजपुत्रों से आ मिला, "मैं भी आपके साथ भगवान बुद्ध की शरण ग्रहण करूंगा। उनके अनुशासन में भिक्षु का जीवन जीऊंगा और मनुष्य-जीवन सार्थक करूंगा।" राजपुत्र खुश हुए। उपालि को साथ ले लिया।

सातों अनुपिया के मल्लों द्वारा अर्पित विहार में पहुँचे, जहां भगवान भिक्षुओं के साथ टिके हुए थे। सबने भगवान को नमस्कार कर प्रव्रज्या मांगी। जब भगवान उन्हें प्रव्रजित करने के लिए तैयार हुए तो उन छहों राजकुमारों ने

कहा, "भगवन, पहले उपालि नाई को प्रव्रजित कीजिए, उसके बाद हमें। ऐसा होने पर प्रव्रजित जीवन में यह हमारा ज्येष्ठ होगा, पूज्य होगा। भिक्षु नियमों के अनुसार हमें इसे झुक कर नित्य नमस्कार करना होगा। अपने ही पूर्व सेवक नाई को झुक कर अभिवादन करेंगे तो ही हमारा अहंकार टूटेगा। भगवन! राजपुत्रों को बड़ा अहंकार होता है और शाक्यवंशी राजपुत्रों का तो कहना ही क्या! सभी वर्णों में क्षत्रिय श्रेष्ठ और क्षत्रियों में भी हम शुद्धरक्त इक्ष्वाकुवंशीय शाक्य क्षत्रिय परम श्रेष्ठ। यह अभिमान कैसे टूटे! इसके टूटे बिना शुद्ध धर्म कहां! मुक्ति कहां!"

भगवान ने मुस्करा कर उनकी बात मान ली। इन शाक्यवंशी राजपुत्रों के गृहत्यागी जीवन में भिक्षु उपालि अग्र हुए। समय पा कर भदंत उपालि भिक्षु नियमों के विनय क्षेत्र में सभी भिक्षुओं के अग्र हुए।

उपसंपदा प्राप्त होने पर एक बार उपालि ने भगवान से साधना की विधि सीख कर प्रार्थना की– "भंते भगवन! मुझे अरण्यवास की आज्ञा दीजिए।" भगवान ने कहा, "अरण्य में जा कर साधना करने से तेरा एकपक्षीय ज्ञान बढ़ेगा, लेकिन यहीं विहार में मेरे पास रह कर साधना करने से उभयपक्षीय ज्ञान बढ़ेगा। तुम ग्रंथधुर और विपश्यनाधुर यानी परियत्ति और पटिपत्ति यानी धर्म का सैद्धांतिक पक्ष और व्यावहारिक पक्ष दोनों में निपुण हो जाओगे, परिपूर्ण हो जाओगे। अतः अरण्य न जा कर विहार में ही रहो।"

भिक्षु उपालि ने भगवान का कहना माना। उनके सान्निध्य में विहार में ही रह कर विपश्यना करते हुए अरहंत अवस्था प्राप्त की। साथ ही भगवान के पास रहते हुए भिक्षुओं के लिए बनाए गये विनय-शील यानी अनुशासन नियमों की पूरी जानकारी प्राप्त की और उनका पालन किया। उपालि भगवान के प्रमुख शिष्यों में से एक हुए।

उपालि की धर्मलब्धि से संतुष्ट हो भगवान ने उन्हें विनयधर भिक्षुओं में सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। अग्र की उपाधि से विभूषित किया। जन्म से न कोई ऊंची जात का होता है, न नीची जात का। ऊंचा या नीचा, बड़ा या छोटा कर्म से ही होता है। यह बात केवल सैद्धांतिक स्तर पर स्वीकार कर लेना आसान है, पर इसे व्यवहार में उतारना कठिन है। जो सद्धर्म के रास्ते चलता है, वह इसे व्यवहार में उतारता है। जन्म से शूद्र माना जाने वाला उपालि कर्म से ब्राह्मण बन गया। ज्येष्ठ श्रेष्ठ बन गया। पावन पूज्य बन गया।

किसी एक हर्ष उल्लास के समय महास्थविर उपालि ने यह उदान कहा;

सद्धाय अभिनिक्खम्म, नवपब्बजितो नवो।
मित्ते भजेय्य कल्याणे, सुद्धाजीवे अतन्दिते॥

– श्रद्धापूर्वक गृह त्याग कर जो तरुण प्रव्रजित हुआ है, उसे चाहिए कि ऐसे कल्याणमित्र की संगति करे, जो निरालस और शुद्ध आजीविका का जीवन जीता हो।

सद्धाय अभिनिक्खम्म, नवपब्बजितो नवो।
सङ्घस्मिं विहरं भिक्खु, सिक्खेथ विनयं बुधो॥

– श्रद्धापूर्वक गृह त्याग कर जो तरुण प्रव्रजित हुआ है, उस समझदार को चाहिए कि वह भिक्षु संघ में रहता हुआ विनय के नियमों को सीखे।

सद्धाय अभिनिक्खम्म, नवपब्बजितो नवो।
कप्पाकप्पेसु कुसलो, चरेय्य अपुरक्खतोति॥

– श्रद्धापूर्वक गृह त्याग कर जो तरुण प्रव्रजित हुआ है, उसे चाहिए कि उचित अनुचित को समझते हुए, आचरण में उतारते हुए धर्म का पालन करे।

महास्थविर उपालि स्वयं युवावस्था में श्रद्धापूर्वक गृह-त्याग कर भगवान बुद्ध जैसे कल्याणमित्र के सान्निध्य में रहे। संघाराम में रह कर भिक्षु नियमों को भलीभांति सीखा और फिर निष्ठापूर्वक धर्म धारण कर मुक्त हुए। इस हर्षोद्गार द्वारा अरहंत उपालि यही सीख औरों को भी देते हैं।

राजकुमारों द्वारा त्यागी वस्त्राभूषण की गठरी नापित उपालि के लिए धर्म धारण की प्रेरणा बनी। विमुक्त महास्थविर उपालि की उल्लासभरी वाणी अनेकों के लिए प्रेरणा का कारण बने। इसी में मंगल कल्याण निहित है।

***

भिक्षु उपालि ने किसी एक प्रसंग में भगवान के मुँह से संक्षेप में धर्म की ऐसी कल्याणकारिणी व्याख्या सुनी, जो कि सभी मुमुक्षुओं के लिए सदैव मार्गदर्शिका बनी रहेगी।

भगवान ने कहा, "उपालि, जो धर्म न संपूर्ण निर्वेद के लिए हैं, न विरक्ति के लिए हैं, न निरोध के लिए हैं, न उपशमन के लिए हैं, न अभिज्ञा के लिए हैं, न संबोधि के लिए हैं और न निर्वाण के लिए हैं; उनके बारे में अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि न ये वस्तुतः सही धर्म हैं, न विनय हैं और न ही शास्ता के अनुशासन हैं।"

सही माने में धर्म तो वही होगा, साधकों के लिए पालन करने योग्य विनय तो वही होगा, किसी भी बुद्ध जैसे शास्ता का अनुशासन तो वही होगा, जिसके बारे में स्वयं अनुभव से जान लिया जाय कि यह समस्त लोकीय अनुभूतियों के प्रति निर्वेद पैदा करने में सहायक है। यह संपूर्ण ऐंद्रिय विषयों के प्रति विरक्ति पैदा करने में सहायक है। यह सभी दुःखों के निरोध करने में सहायक है। यह सभी विकारों के उपशमन में सहायक है। यह ऐसे अभिज्ञान के लिए सहायक है, जिसे जगा कर साधक अपने भीतर समस्त आस्रवों के निर्मूलन की अवस्था का स्वयं दर्शन कर लेता है। यह स्वयं अपनी संबोधि जगाने में सहायक है। यह नित्य, शाश्वत, ध्रुव निर्वाण का साक्षात्कार कराने में सहायक है तो ही धर्म है, अन्यथा धर्म नहीं। शुद्ध धर्म को मापने की एक ही कसौटी है।

११. वासना-विमुक्ति का मार्ग

कोशल देश की राजधानी, महानगरी श्रावस्ती। उन दिनों भगवान श्रावस्ती में ही अनाथपिंडिक के जेतवन में विहार कर रहे थे। बड़ी संख्या में साधक-साधिकाएं भगवान से विपश्यना-साधना सीखते थे। समय-समय पर धर्म-चर्चा होती थी।

भगवान की अमृतवाणी सुनने के लिए नगर से अन्य लोग भी आते थे और लाभान्वित होते थे। एक दिन नगर का ब्राह्मण अभय धर्मदेशना में आया। उस दिन भगवान ने समझाया कि किस प्रकार विपश्यना-साधना द्वारा साधक सभी मनोविकारों से मुक्त हो सकता है। गृहस्थ अभय काम-वासना के विकार से बहुत व्यथित रहता था। चाहता था, किसी प्रकार उससे छुटकारा पाये परंतु अनेक उपाय आजमाने पर भी उसे सफलता नहीं मिली। भगवान की वाणी में उसे आशा की झलक दिखायी दी। यह साधना अपनी परंपरागत दार्शनिक मान्यता को पुष्ट नहीं करती। परंतु युक्तिसंगत लगती है। अतः इस वैज्ञानिक विधि का अभ्यास करके मुझे वासना से मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिए। उसने सोचा, घर के राग-रंगमय वातावरण में रहते हुए विपश्यना-साधना द्वारा वासना से पूर्ण मुक्ति पा सकने में बहुत समय लग सकता है। अतः घरबार छोड़ कर भिक्षु हो, भगवान के विहार में रहने लगा और विपश्यना-साधना का नियमित अभ्यास करने लगा। विपश्यना-साधना से उसे अनेक प्रकार के लाभ हुए। विकारों का शमन हुआ। उसे लगा कि उसकी काम-वासना भी दूर हो गयी है। परंतु अभी अनुशय क्लेश के रूप में वासना के पूर्व संस्कार अंतर्मन की गहराइयों में भवंग अवस्था में सोये पड़े थे, उनकी न उदीरणा हो पायी थी और न ही निर्जरा।

भिक्षु अभय प्रतिदिन भिक्षाटन के लिए नगर में जाता। भिक्षु नियमों के अनुसार हमेशा नजर नीची किये हुए भिक्षा लेता और विहार लौट कर आहार ग्रहण करता और ध्यान भावना में रत हो जाता।

एक दिन भिक्षाटन के समय किसी घर के सामने नीची नजर किये हुए भिक्षा पात्र में भिक्षा ग्रहण कर रहा था। भिक्षा देने वाली गृहिणी के मेंहदी रचे मनहर पांवों पर उसकी नजर पड़ी और अपने भिक्षु-स्वभाव के विपरीत एकाएक नजर ऊपर उठ गयी। सामने रूप-राशि लिए नवयौवना खड़ी थी।

भिक्षु अपलक देखता ही रह गया। ऐसा रूप-सौंदर्य उसने पहले कभी न देखा था। रूपगर्विता युवती यह देख कर मुस्करायी। उसे अपनी रूप-संपदा पर अधिक गर्व जागा। वह मुस्कराती, इठलाती हुई अपने घर के भीतर चली गयी।

भिक्षु अभय विहार लौटा। पर न भोजन अच्छा लगा, न ध्यान-भावना में मन लगा। बार-बार उस रूपसी की लुभावनी चितवन, मनभावनी मुस्कान और चित्ताकर्षक देह कनकयष्टि बंद आंखों के सामने प्रकट होने लगी। भिक्षु काम-विह्वल हो उठा। ध्यानांगन में जरा भी मन न टिके, कामांगन में ही मन लोटपलोट लगाता रहे। वही चितवन, वही मुस्कान, वही देहयष्टि। साधक भिक्षु की बड़ी दयनीय दशा हो गयी। बीच-बीच में उसे कभी होश आता। अपनी दशा पर बड़ी ग्लानि होती। जानता था कि ग्लानि से विकार विमुक्त नहीं हो सकता। पर क्या करे?

सौभाग्य से भगवान की धर्मवाणी उसके कानों में गूंज उठी,

"रूपं दिस्वा सति मुट्ठा', रूप देख कर **सति मुट्ठा** हो गयी, स्मृति भ्रष्ट हो गयी,"

क्योंकि **'पियं निमित्तं मनसिकरोतो'** मन में प्रिय माने हुए निमित्त का चिंतन चलने लगा।

ऐसी अवस्था में **'सारत्तचित्तो वेदेति'** चित्त शरीर पर होने वाली संवेदनाओं को महसूस तो करता है, पर उन्हें प्रिय मान कर राग-रंजित हो उठा है,

और **'तञ्च अज्झोस तिट्ठति'** उसी में डूब कर रह जाता है।

परिणाम-स्वरूप **'तस्स वड्ढन्ति आसवा'** ऐसे व्यक्ति के आस्रव बढ़ते हैं। भव-संस्कारों का संवर्धन होने लगता है,

ऐसे भव-संस्कारों का जो कि **'भवमूलोपगामिनोति** भवमूल या भवंग की ओर, अचेतन चित्त की ओर पैठते और संगृहीत होते रहते हैं।"

भगवान के इन शब्दों से जैसे साधक अभय को एक बिजली का-सा करेंट लगा। तीव्र काम-वासना जागने की यह घटना उसकी मुक्ति के लिए अद्भुत प्रेरक प्रसंग बनी। वह अपनी स्मृति को, जागरूकता को, **'सति मुट्ठा'** से **'सतिपट्ठान'** की ओर मोड़ने लगा। बड़ा दृढ़ पराक्रम किया। यथाभूत ज्ञानदर्शन की विपश्यना शुरू की। "मेरे चित्त पर इस समय काम-वासना के विकार जागे हैं और उसकी वजह से शरीर पर संवेदना हो रही है।" दोनों को साक्षीभाव से

देखने लगा। दोनों ही अनित्य स्वभाव वाले हैं। देखें, कब-तक रहते हैं। बस देखने लगा। उन्हें दूर करने का उपक्रम बंद किया और विपश्यना अपना काम करने लगी। शीघ्र ही तूफान से मुक्त हुआ और इतना ही नहीं, यों संवेदनाओं पर कुछ दिनों तक काम करते-करते सभी अंतःशायी कामविकारों का क्षय कर लिया। जीवन-मुक्त हुआ।

भिक्षु अभय अरहंतों में से एक हुआ।

१२. अमृतमयी वाणी

कपिलवस्तु का एक शाक्य राजकुमार उत्तिय। भगवान का उपदेश सुन कर प्रव्रजित हुआ। काम-वासना के संस्कारों को जड़ से उखाड़ना चाहता था। समझ गया था कि विपश्यना ही इसका एकमात्र सहज वैज्ञानिक साधन है। अतः अभ्यास में लग गया।

एक दिन भिक्षाटन के लिए जब गांव गया तो किसी एक कोकिलकंठी नारी की स्वरमाधुरी सुन कर मोहमुग्ध हो गया। कामातुरी नारी के गीत में काम-भोग का आह्वान था। बोल भिक्षु के अंतर में पैठ गये और उसका मन मंथन करने लगे। साधक काम-वासना के ज्वर से संतापित हो उठा, जर्जरित हो उठा। स्मृति-विभ्रम की अवस्था में अभिभूत हो उठा। गीत के वह बोल ही मानस पर बार-बार उभरने लगे। ऐसे समय भगवान की अमृतवाणी के शब्द याद आये…

"सद्दं सुत्वा सति मुट्ठा, पियं निमित्तं मनसिकरोतो" आदि-आदि। यानी शब्द सुन कर स्मृति भ्रष्ट हो जाती है, शब्द का आलंबन ही प्रिय लगने लगता है और मानस उसी रस में रंजित होकर डूबने लगता है। भव संसार के प्रवाह की ओर बहाने वाले ऐसे आस्रवों का, काम संस्कारों का संवर्धन होने लगता है।

उसे तुरंत होश आ गया। कामशब्दों में रागरक्त हो डूबने का यह प्रसंग उसके लिए बहुमूल्य प्रेरणा का कारण बना, मुक्ति का कारण बना। उसमें अपरिमित उत्साह जागा और वह **'सति मुट्ठा' को 'सतिपट्ठान'** में बदलते हुए वासना की न केवल तत्कालीन बाढ़ के बाहर निकला, बल्कि सही तरीके से संवेदनाओं के आधार पर विपश्यना करता हुआ भव संस्कार के संवर्धन से छुटकारा पा कर चिरसंचित वासना की उदीरणा और क्षय में लग गया। समय पा कर भिक्षु उत्तिय सर्वथा विकार विमुक्त हुआ और अरहंतों में से एक हुआ।

१३. धर्म-धारणा

कोशल प्रदेश के राजा प्रसेनजित का पुरोहित ब्राह्मण बावरी वृद्धावस्था में गृह त्याग कर संन्यासी हो गया और श्रावस्ती नगर छोड़ कर उत्तरापथ से दक्षिणापथ की ओर चल पड़ा। आंध्रप्रदेश के अश्वक और नलक राज्यों के बीच बहने वाली गोदावरी नदी के तट पर उसने अपना आश्रम बनाया। भिक्षा और फल-मूल ग्रहण करता हुआ संन्यासी बावरी वहीं तापस जीवन जीने लगा। जब उसकी उम्र सौ वर्ष की हुई तब उसने पास के गांव से कुछ धन प्राप्त किया और महान यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ पूरा करने पर जो धन बचा, उसे लोगों में बांट दिया। तत्पश्चात उसके पास एक याचक ब्राह्मण पांच सौ मुद्रा का दान मांगने आया। बावरी ने विनीत भाव से असमर्थता प्रकट की। असंतुष्ट याचक कुपित हुआ और बावरी को यह शाप दे कर चला गया कि सात दिनों में उसका सिर सात खंडों में विखंडित हो कर गिर पड़ेगा।

वृद्ध बावरी अत्यंत उदास और खिन्न मन हो उठा। न भोजन अच्छा लगे, न ध्यान में ही मन लगे। तभी उसके एक हितैषी ने उसे सांत्वना के शब्द कहे कि किसी ढोंगी के शाप से तुम्हें चिंतित नहीं होना चाहिए। कौवों के शाप से हाथी नहीं मरा करते। तुमने कोई दोष नहीं किया। किसी धन-लोलुप अज्ञानी का अभिशाप तुम्हारा क्या बिगाड़ सकेगा भला? जिस व्यक्ति को यही नहीं पता कि सही माने में सिर क्या है और सिर का विखंडन होना क्या है? वह अज्ञानी ही तो है। बूढ़े बावरी को सांत्वना मिली। पर उसके मन में जिज्ञासा जागी और पूछ बैठा कि यह सिर और सिर के विखंडित होने का और भी कोई अर्थ होता है क्या? हो तो समझाओ।

आगंतुक ने कहा कि इसे कोई सम्यक संबुद्ध ही ठीक से समझा सकते हैं और सौभाग्य से इस समय सम्यक संबुद्ध उत्पन्न हैं। उन्हीं से जा कर पूछो। और उनका परिचय देते हुए कहा;

पुरा कपिलवत्थुम्हा, निक्खन्तो लोकनायको।
अपच्चो ओक्काकराजस्स, सक्यपुत्तो पभङ्करो॥

– कुछ वर्ष पूर्व इक्ष्वाकुवंशीय प्रभाकार शाक्य पुत्र ने कपिलवस्तु से गृह त्याग कर अभिनिष्क्रमण किया।

सो हि ब्राह्मण सम्बुद्धो, सब्बधम्मान पारगू।
सब्बाभिञ्ञाबलप्पत्तो, सब्बधम्मेसु चक्खुमा।
सब्बकम्मक्खयं पत्तो, विमुत्तो उपधिक्खये॥

– हे ब्राह्मण वही संबुद्ध हो गये हैं। सभी धर्मों में पारंगत, चक्षुमान, सभी अभिज्ञानबल संपन्न हैं। उनके सारे कर्म क्षय हो गये हैं। वे कृतकृत्य हैं। उन्होंने दुःखों की जड़ें उखाड़ ली हैं। वे विमुक्त हैं।

बुद्धो सो भगवा लोके, धम्मं देसेति चक्खुमा।
तं त्वं गन्त्वान पुच्छस्सु, सो ते तं ब्याकरिस्सति॥

– वे चक्षुमान भगवान बुद्ध, लोक में धर्म का उपदेश दे रहे हैं। तुम उनके पास जा कर पूछो। वे तुम्हें विस्तार से समझाएंगे।

सम्बुद्धोति वचो सुत्वा, उदग्गो बावरी अहु।
सोकस्स तनुको आसि, पीतिञ्च विपुलं लभि॥

– **सम्बुद्ध** शब्द सुनते ही बावरी प्रफुल्लित हो उठा। उसका शोक दूर हुआ। वह विपुल प्रीति प्रमोद से पुलकित हो उठा।

यों रोमांच-पुलक से भरे श्रद्धाबहुल बावरी ने आतुरता से पूछाः

कतमम्हि गामे निगमम्हि वा पन,
कतमम्हि वा जनपदे लोकनाथो।

– वे लोकनाथ भगवान बुद्ध इस समय किस गांव में हैं? किस निगम में? किस जनपद में हैं?

यत्थ गन्त्वान पस्सेमु, सम्बुद्धं द्विपदुत्तमं॥

– जहां जा कर मैं उन द्विपद श्रेष्ठ बुद्ध को देख (नमस्कार कर) सकूं। इस पर आगंतुक ने बताया;

सावत्थियं कोसलमन्दिरे जिनो, पहूतपञ्ञो वरभूरिमेधसो।
सो सक्यपुत्तो विधुरो अनासवो, मुद्धाधिपातस्स विदू नरासभो॥

– वे महाप्रज्ञ, परम मेधावी, भारमुक्त, आस्रवमुक्त, सिरच्छेदन के ज्ञाता, नरवृषभ, शाक्यपुत्र भगवान जिन, बुद्ध इस समय कोशल देश के श्रावस्ती नगर में हैं।

शतायु बावरी आंध्रप्रदेश से कोशलप्रदेश की लंबी यात्रा कर सकने में स्वयं असमर्थ था। अतः उसने अपने प्रमुख शिष्यों को एकत्र कर उनसे कहाः

यस्सेसो दुल्लभो लोके, पातुभावो अभिण्हसो।
स्वाज्ज लोकम्हि उप्पन्नो, सम्बुद्धो इति विस्सुतो।
खिप्पं गन्त्वान सावत्थिं, पस्सव्हो द्विपदुत्तमं॥

– लोक में जिनका सदा उत्पन्न होना दुर्लभ है, वे आज संबुद्ध के विरुद से प्रसिद्ध हो उत्पन्न हुए हैं। शीघ्र श्रावस्ती जा कर उन मनुज-श्रेष्ठ का दर्शन करो।

इस प्रकार उसने अपने शिष्यों को बुद्ध के दर्शन कर उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए समुत्साहित किया। बावरी के जटा और मृगछालाधारी सोलह प्रमुख शिष्य अजित, तिस्स मेत्तेय्य, पुन्नक, मेत्तगू, धोतक, उपसीव, नंद, हेमक, तोदेय्य, कप्प, जातुकण्णी पंडित, भद्रायुध, उदय, ब्राह्मण पोसार, मेधावी मोघराजा और महर्षि पींगिय जो सब के सब गणी थे, ध्यानी थे, पूर्व जीवन के पुण्यपारमी संपन्न थे, वर्तमान जीवन में लोक विश्रुत थे, वे सब अपने आचार्य बावरी को प्रणाम कर, उनकी प्रदक्षिणा कर उत्तर की ओर चल पड़े।

वे पहले अलक से पैठन आये और वहां से वर्तमान मध्य-प्रदेश के महिष्मती, उज्जैन, गोधपुर, विदिसा (भेलसा), तुंगवन (तुंगेन) की यात्रा करते हुए वर्तमान उत्तर प्रदेश के कौशाम्बी (कोसम), साकेत (अयोध्या) होते हुए श्रावस्ती पहुँचे। वहां पहुँचने पर पता चला कि भगवान पूर्व की ओर मगध देश की चारिका के लिए चले गये हैं। अतः आगे यात्रा करते हुए सेतव्य, कपिलवस्तु, कुसीनारा और पावा से भोगनगर होते वैशाली पहुँचे और वहां से राजगृह। वहीं के मनोरम पाषाण चैत्य पर भगवान बुद्ध के दर्शनलाभी हुए।

भगवान ने उनके गुरु बावरी के प्रश्न का समाधान करते हुए समझाया कि अविद्या ही सिर है और श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधियुक्त प्रज्ञा (विद्या) द्वारा ही इस अविद्या का भेदन होता है। सचमुच महज कपोल कल्पनाओं को धर्म मानने वाले अथवा पराए ज्ञान पर तर्क-वितर्कजन्य बुद्धिकिलोल को ही धर्म मानने वाले अविद्या के शिकार हैं। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि के बल पर जब स्वयं अपनी प्रज्ञा जागती है और सत्य की प्रत्यक्षानुभूति होती है तो सिरच्छेदन होता है; अविद्या की खोल खंडित होती है। जिज्ञासु प्रश्नकर्ता संतुष्ट प्रसन्न हुए।

तदनंतर उन सभी सोलह तपस्वियों ने एक-एक करके भगवान से धर्म-संबंधी प्रश्न पूछे। भगवान ने संतोषजनक उत्तर दिये। ये प्रश्नोत्तर अत्यंत महिमामंडित हैं। प्रत्येक धर्मजिज्ञासु के लिए अपरिमित प्रेरणा-प्रदायक हैं, धर्मपथ प्रदर्शक हैं। इनके बारे में ठीक ही कहा गया है;

एकमेकस्स पञ्हस्स, यथा बुद्धेन देसितं।
तथा यो पटिपज्जेय्य, गच्छे पारं अपारतो॥

– एक-एक प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने जो उपदेश दिये, उसका प्रतिपादन करने वाला इस पार से उस पार चला जायगा।

मग्गो सो पारं गमनाय, तस्मा पारायनं इति।

– यह पार जाने का मार्ग है। इसीलिए पारायण कहा जाता है।

सच ही तो है। धर्म पारायण ही तो है। पारायण का अर्थ महज पाठ कर लेना नहीं होता। उसका प्रतिपादन कर पार उतर जाना ही पारायण है। और उन सोलह तपस्वियों ने यही किया। उनके प्रश्नोत्तर केवल बुद्धिविलास के लिए नहीं थे। उनमें से किसी एक प्रश्न का भी अर्थ जानकर, धर्म जान कर यदि कोई धर्मानुधर्म का प्रतिपादन कर ले यानी धारण कर ले तो जरा-मरण से पार चला जाय।

पञ्हस्स अत्थमञ्ञाय, धम्ममञ्ञाय, धम्मानुधम्मं पटिपज्जेय्य, गच्छेय्येव जरामरणस्स पारं, पारङ्गमनीया इमे धम्माति।

– प्रश्नोत्तर इसी हेतु हुए। पारायण हेतु हुए। पार उतरने के लिए हुए।

इसीलिए जब उनमें से एक (ऋषि धोतक) ने भक्तिभाव विभोर हो भगवान से कहा;

पस्सामहं देवमनुस्सलोके, अकिञ्चनं ब्राह्मणमिरियमानं।
तं तं नमस्सामि समन्तचक्खु, पमुञ्च मं सक्क कथंकथाहि॥

– देव मनुष्यों के बीच आप जैसे अपरिग्रही ब्राह्मण को विचरण करते हुए देखता हूं। हे समंतचक्षु, मैं आपको नमस्कार करता हूं। हे शक्र, मुझे संशयों से मुक्त करें।

तो भगवान ने कहा,

नाहं सहिस्सामि पमोचनाय, कथंकथिं धोतक कञ्चि लोके।
धम्मञ्च सेट्ठं अभिजानमानो, एवं तुवं ओघमिमं तरेसि॥

– हे धोतक, किसी संशयी को मैं मुक्त करने नहीं जाता। जब तुम स्वयं श्रेष्ठ धर्म को अनुभूति द्वारा जान लोगे तो स्वतः इस बाढ़ से पार हो जाओगे।

यहां पर **अभिजानमानो** शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्वयं अनुभूति द्वारा जानने को ही **अभिजानमानो** कहा जाता था। मन के संशय यदि अंधश्रद्धा के बल पर दूर किये जायँ तो अभिजानन नहीं हुआ। इसी प्रकार केवल तर्क-वितर्क के बल पर दूर किये जायँ तो भी अभिजानन नहीं हुआ। इन दोनों के परे

प्रत्यक्षानुभूति द्वारा जानना ही बुद्ध मंतव्य है। वही वास्तविक **अभिजानमानो** है। इसी के द्वारा **ओघमिमं तरेसि** होता है। सही माने में यही पारायण है।

इन्हीं में का एक साधक महर्षि पिंगीय कहता है, भगवान के संपर्क में आने से पहले तो सदा यही सुनता आया था – **इच्चासि इति भविस्सति** यानी ऐसा था, ऐसा होगा। वह जो सुना करता था सो तो काल्पनिक ही काल्पनिक था। **सब्बेते इतिहेतिहं** अंधविश्वासों एवं परंपरागत मान्यताओं से भरी हुई कोरी बातें ही बातें थीं। अथवा **सब्बं तं तक्कवड्ढनं –** सब का सब तर्क-वितर्क के मायाजाल से भरा हुआ बुद्धिकिलोल ही बुद्धिकिलोल था, बुद्धिविलास ही बुद्धिविलास था। वास्तविकता कहां थी? प्रत्यक्षानुभूति कहां थी? परंतु अब धन्यता प्राप्त हुई जो कि;

यो मे धम्ममदेसेसि, सन्दिट्ठिकमकालिकं।
तण्हक्खयमनीतिकं, यस्स नत्थि उपमा क्वचि॥

– अब जो धर्म मुझे सिखाया गया है, यह तो सांदृष्टिक है यानी अनुभूतिजन्य है। 'ऐसा हुआ था, ऐसा हुआ था' की कोरी कल्पना नहीं है। अकालिक है यानी तत्काल फल देने वाला है। 'ऐसा होगा, ऐसा होगा' की मिथ्या मृगतृष्णा नहीं है। यहीं इसी जीवन में तृष्णा का क्षय और दुःख का विनाश करने वाला है। जिन्होंने यह सिखाया उनकी कोई उपमा नहीं।

जिन भगवान ने सिखाया, उन्होंने भी स्वयं जानकर ही सिखाया, अंधश्रद्धा अथवा बुद्धिविलास के आधार पर नहीं।

यथाद्दक्खि तथाक्खासि, विमलो भूरिमेधसो।
निक्कामो निब्बनो नागो (नाथो), किस्स हेतु मुसा भणे॥

– निर्मल महाप्रज्ञ ने जैसा देखा, वैसे बताया। नाथ (नाग) निष्काम हैं, वितृष्ण हैं। वे असत्य क्यों बोलेंगे भला?

और उन्होंने जो कुछ सिखाया, वह साधकों को जानने के लिए सिखाया। महज मानने के लिए नहीं। धर्म जानने के लिए ही है। स्वयं साक्षात्कार करने के लिए है। इसीलिए सांदृष्टिक है, इसीलिए अकालिक है। यहीं इसी जीवन में फलदायी है।

१४. सविवेक श्रद्धा

तीन वेदों में पारंगत विद्वान वक्कलि ब्राह्मण भगवान बुद्ध के आश्रम में गया। महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से परिपूर्ण तथागत के सुंदर तेजस्वी शरीर ने, उनके प्रभावशाली ओजस्वी व्यक्तित्व ने उस भावुक ब्राह्मण को सहज ही आकर्षित कर लिया। उन भगवान अंगीरस के अंग अंग से जो प्रभा-रश्मियां प्रस्फुटित हो रही थीं, उन्होंने वक्कलि ब्राह्मण को भावाभिभूत कर दिया। उनके अंतर से उमड़ने वाली अपरिमित मैत्री और करुणा-तरंगों का गहरा प्रभाव भी था ही। वक्कलि ने निर्णय किया कि मैं भगवान के इस रूप का ही दर्शन करता रहूंगा। अतः वह घर से बेघर हो, दाढ़ी-मूंछ मुँड़ा कर, प्रव्रजित हुआ और भिक्षु संघ में सम्मिलित हो गया। केवल इसीलिए कि उसे भगवान का सान्निध्य-सुख अधिक से अधिक प्राप्त हो सके। अब वह भक्ति के आवेश में रस-लोलुप भँवरे की तरह भगवान की रूप-माधुरी के चारों ओर मँडराने लगा। न उसे शील का ध्यान, न समाधि द्वारा चित्त एकाग्रता का अभ्यास और न ही विपश्यना द्वारा प्रज्ञा जागृत करने का ही कोई प्रयास। जब देखो तब, भगवान के सामने बैठा रहे और उनके प्रभा-मंडित चेहरे को अपलक निर्निमेष देखता रहे। करुणामय भगवान तथागत ने देखा कि यह नया भिक्षु भक्ति-भावावेश में इतना अंधा हो गया है कि धर्म के सत्य स्वरूप से दूर जा पड़ा है। उन्होंने उसे फटकारते हुए कहा, "ओ भोले भिक्षु, मेरे इस शरीर को पागलों की तरह क्या देख रहा है? मेरे इस रूप, इस काया पर क्या ध्यान लगा रहा है? यह काया भी भीतर से उतनी ही गंदी है, जितनी कि किसी भी अन्य की काया। यदि मुझे देखना है तो मेरे भीतर समाए हुए धर्म को देख। जो धर्म को देखता है, वही मेरे सच्चे स्वरूप को देखता है। जो सही माने में मुझे देखता है, वह मेरे भीतर समाए हुए सत्य धर्म को ही तो देखता है, बाह्य शरीर को नहीं।" –

यो खो धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति; यो मं पस्सति, सो धम्मं पस्सति।

महाकारुणिक की इस धर्म फटकार से भावावेश के अंधकार में डूबे हुए वक्कलि ब्राह्मण के प्रज्ञा चक्षु खुले। उसे भगवान की यह बात समझ में आयी कि वे तो सचमुच धर्म के मूर्त स्वरूप हैं। अतः उनका दर्शन यदि काया के दर्शन तक ही सीमित रहा तो पागलपन ही रहा। उनके दर्शन में सत्य धर्म का दर्शन होना ही चाहिए, **दिट्ठधम्मं निब्बाणं** का दर्शन होना ही चाहिए। और यह

सांदृष्टिक निर्वाण धर्म तो अंतर्मुखी हो कर स्वयं अपने ही भीतर देखने के लिए है, बाहर नहीं। बात उसकी समझ में आ गयी। विपश्यना-प्रज्ञा द्वारा अपने भीतर का सत्य धर्म दर्शन किये बिना जीवन भर बुद्ध के चीवर को पकड़े हुए उनके पीछे लगे रहने वाला उनसे कोसों दूर है। परंतु उनसे हजार योजन दूर कहीं किसी एकांत में अंतर्मुखी होकर अपने भीतर सत्य-धर्म का साक्षात्कार कर लेने वाला बुद्ध के समीप है। धर्म का साक्षात्कार ही बुद्ध का साक्षात्कार है। धर्म का सान्निध्य ही बुद्ध का सान्निध्य है। आखिर बुद्ध क्या है? **सम्यक-संबोधि** का जीता जागता स्वरूप ही बुद्ध है।

यह बात समझ में आते ही वक्कलि पर छाया हुआ भक्ति-भावावेश का अंध घटाटोप दूर हुआ। सत्य-धर्म का आलोक प्रकाशित हुआ। उसने भगवान से विपश्यना साधना का कर्मस्थान सीखा, अंतर्मुखी होने की सरल विधि सीखी और दूर एकांत में जा कर अभ्यास करने लगा। पुराने भक्ति-भावावेश ने बीच-बीच में कुछ अड़चनें पैदा कीं, परंतु अंततः वह सच्चा साधक निर्वाण का साक्षात्कार कर कृत-कृत्य हुआ। सभी आस्रवों, क्लेशों, संयोजनों और बंधनों को दूर कर मृत्यु के पूर्व इसी जीवन में विमुक्त अवस्था को प्राप्त हुआ।

तो हम देखते हैं कि अंध-भक्ति, अंध-विश्वास और अंध-श्रद्धा का भयावह भावावेश साधक की सही उन्नति में सदा बाधक ही सिद्ध होता है।

भगवान ने कहा, **तुम्हेहि किच्चं आतप्पं, अक्खातारो तथागता** यानी तथागत केवल मार्ग आख्यात करने वाले हैं, विधि समझा देने वाले हैं, आखिर काम तुम्हें ही करना पड़ेगा। सारा रास्ता तुम्हें स्वयं चल कर पार करना होगा। इस यथार्थ से आंख मूंद कर भावुकता-वश हम बुद्ध को अथवा अन्य किसी छोटे बड़े गुरु को तारक मान कर उसके प्रति अंध-श्रद्धा और अंध-भक्ति में डूब कर उसी के आश्रित हो जायँ, साधना-धर्म का अभ्यास छोड़ दें और अपने आपको बिल्कुल असमर्थ और निर्बल समझने लगें तो सचमुच पंगु और निकम्मे बन कर रह जायँ। धर्म के नाम पर ऐसी भक्ति-भावावेशमयी हीन भावना हमारे लिए कदापि कल्याणकारी नहीं हो सकती। सच्चे कल्याण के लिए हमें अपना आत्मबल जीवित रखना होगा। आत्मबल जीवित रखना और मुक्तिपथ पर चलने के लिए अपनी जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक रहना अहंमन्यता नहीं है।

विमुक्ति-मार्ग पर चलने के लिए आत्मभाव की अहंमन्यता से बचना नितांत आवश्यक है। अपने भीतर समाए हुए अहंकार, ममकार को निकाल

देना अनिवार्य है। परंतु अहंकार निकालने के नाम पर अपने मन में हीन भावना भर लेना और उसे दुर्बल और परावलंबित बना लेना, विनाशकारी अहंकार के विरुद्ध उठाया गया एक ऐसा कदम है जो कि हमें इस एक छोर से बिल्कुल दूसरे छोर तक पहुँचाता है। यह दूसरी अति है, जो कि हमारे लिए उतनी ही हानिकारक है। हमें बीच का रास्ता अपनाना है, इन उभय अंतों को छोड़ कर कल्याणकारी मध्यम मार्ग अपनाना है, जिसमें कि एक ओर न अहंभाव, आत्मभाव के कारण हमारा सिर सूज उठे और हम अपने को छोड़ कर और किसी को कुछ समझें ही नहीं और न दूसरी ओर हममें ऐसी हीन भावना पैदा हो जाय, जिससे कि हम पराए आसरे पड़ कर अपने आप को बिल्कुल निकम्मा बना लें।

अपने कल्याणमित्र मार्गदर्शक धर्म-गुरु के प्रति नैसर्गिक श्रद्धा, भक्ति और कृतज्ञतापूर्ण विनम्रता बनाए रखना गलत नहीं है। परंतु इसके साथ-साथ हमारे ज्ञान-विवेक की आंखें भी खुली रहनी चाहिए। अपने गुरु के प्रति अंध-श्रद्धा, अंध-भक्ति और अंध-विश्वास में डूब जाना और उसके हर कार्य में, हर बोल में चमत्कार देखना, अलौकिकता देखना, जितना साधकों के लिए हानिप्रद है, उतना ही स्वयं आचार्य के लिए भी है। इस अंधे भावावेश में जहां शिष्य और आचार्य डूबे, वहीं मार्ग का भी पतन हो जाता है। इतिहास साक्षी है, किस प्रकार भगवान की यह कल्याणकारी विपश्यना पद्धति सिद्धियों और चमत्कार के चक्कर में पड़े हुए धर्म-नेताओं और उनके अंधानुयायियों के कारण इस देश से सर्वथा लुप्त हो गयी। स्वयं गुरुओं ने गुरु की महिमा गा-गा कर और उनमें अलौकिक शक्तियों की अतिरंजित व्याख्या कर करके लोगों की अंध-श्रद्धा का पोषण किया जिससे कि गुरुओं का मान-सम्मान बढ़े, उनके लाभ-सत्कार में अभिवृद्धि हो। आचार्यों की यशलिप्सा ने ही इस विशुद्धि-मार्ग को दूषित किया और इस प्रकार भगवान तथागत के बाद चंद सदियों में ही भारतवर्ष से इस कल्याणकारी मार्ग का लोप हो गया। शील, समाधि और प्रज्ञा का यह परम परिशुद्ध धर्म, विपश्यना साधना के सहारे एक लंबे अर्से बाद इस देश में पुनः आया है। इस मार्ग की विशुद्धि कायम रहे, जिससे कि सद्धर्म चिरकाल तक प्रतिष्ठित होकर लोगों को लाभ पहुँचाता रहे। इसके लिए यह नितांत आवश्यक है कि कोई भी साधक-साधिका अपने मार्ग-निर्देशक आचार्य में कभी किसी प्रकार के अलौकिक चमत्कार का आरोपण न करे। उसके प्रति मिथ्या ईश्वरत्व भाव रख कर किसी अंध-श्रद्धा में न डूबे। तभी गुरु-शिष्य की एक स्वस्थ, स्वच्छ, आदर्श परंपरा स्थापित हो सकेगी, जो कि चिरकाल तक

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय बनी रहेगी। पूर्व संस्कारों के कारण कहीं-कहीं किसी-किसी विपश्यना साधक में ऐसा अंध-विश्वास जागने लगता है जिसे शीघ्र मिटाना चाहिए।

हम सब का कल्याण इसी बात में है कि हम इस ध्रुव सत्य को समझते रहें कि स्वयं अपने भीतर जागृत हुए अनित्यबोध की इस विपश्यना चेतना से बढ़ कर और कोई शरण देने वाला है ही नहीं। झूठी कल्पनाओं और थोथी आशाओं में हम अपने आप को न डूबने दें और सदैव अपने भीतर के इस विपश्यना चैतन्य को ही जगाये रखें।

प्रतिक्षण भीतर ही भीतर जो कुछ अनुभूत हो रहा है, वह अनित्य है, क्षण भंगुर है, नश्वर है, परिवर्तनशील है, ऐसा तो इसका स्वभाव ही है, ऐसी तो इसकी प्रकृति ही है, ऐसा तो इसका धर्म ही है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अष्टकलापों से, परमाणु-कणों से बना हुआ, यह शरीर-प्रपंच पानी के बुलबुलों की तरह प्रतिक्षण बनता और नष्ट होता रहता है। इन्हीं परमाणु कणों के साथ जुड़ी हुई यह चित्तसंतति भी इसी प्रकार उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। शरीर और चित्त की यह मिली-जुली जीवन धारा कितनी भंगमान है, किस प्रकार प्रतिक्षण भंग हो रही है, इस सच्चाई को विपश्यना की सम्यक-दृष्टि द्वारा देखते रहें ताकि इसके प्रति कोई आसक्ति न रह जाय। यही चित्त-विशोधन का मंगल-मार्ग है। इस समय हमें जिस सत्य के दर्शन हो रहे हैं, उसी के प्रति जागरूक रहना हमारा धर्म है। किसी भावी स्वप्निल स्थिति की मधुर कल्पना और आसक्तिभरी कामना हमारी प्रगति का सब से बड़ा रोड़ा है, उससे बचें।

विपश्यना धर्म वर्तमान में जीने का धर्म है। इस समय जो जैसा अनुभूत हो रहा है, वही हमारे काम का है। न भूतकाल जो कि बीत चुका है और न भविष्य जो कि अभी आया नहीं। अतः कल्पनाओं और कामनाओं से बचें। थोथी आशाओं और आकांक्षाओं से बचें। निस्सार परावलंबन से बचें। अपनी प्रज्ञा स्वयं जगा कर इस क्षण के यथार्थ का दर्शन करते रहें। यही **'अत्तसम्मा पणिधि'** है, सम्यक आत्म-प्रणिधान है, स्वावलंबन है, स्व-स्थित सत्य का आलंबन है, धर्म का आलंबन है, ज्ञान, विवेक, विद्या, आलोक, प्रज्ञा और बोधि का आलंबन है। आओ, इसी आलंबन में जीएं!

१५. दो अतियों के बीच

उन दिनों अधिकांश लोग इन दो धाराओं में ही बहते थे। दोनों अतियों की धाराएं। एक प्रवृत्ति की, एक निवृत्ति की। पर दोनों ही बेहद दूषित हो चुकी थीं। प्रवृत्ति मार्गीय लोग काम-भोग के कीचड़ में आकंठ डूबे हुए किन्हीं पेशेवर पुरोहितों से निरीह पशुओं की हत्याएं करवा कर भिन्न-भिन्न प्रकार के शोणित यज्ञ करवाते थे और यह मानते थे कि इससे अग्निदेव या अन्य देव-ब्रह्म हम पर प्रसन्न होकर हमें अमरत्व प्रदान करेंगे। निस्संदेह यह मार्ग शुद्ध धर्म के विमुख पापवर्धन का ही था। इसीलिए इसे –

हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो – कहा गया। यानी हीन, गँवार, पृथग्जन, अनार्यों का अनर्थ-संग्राहक मार्ग।

दूसरा निवृत्ति का मार्ग। वह भी अतियों में जा कर –

अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो – दु:खद आत्मक्लेश का मार्ग, अनार्यों का अनर्थ संग्राहक मार्ग बन गया था। मुक्तिपथ के सर्वथा प्रतिकूल। भगवान ने इन दोनों अतियों को त्याग कर पुरातन, सनातन, मध्यम मार्ग खोज निकाला जो कि सर्वहितकारी सिद्ध हुआ। अनेक लोग जो ऐसे अतियों के मार्ग पर भटक रहे थे, उन्हें मुक्ति का सत्पथ मिला। धर्म संबंधी सारी शंकाएं दूर हुईं। दृढ़तापूर्वक सत्पथ पर चल कर सहज ही मुक्त अवस्था तक पहुँचे और अपना कल्याण साध सके।

इसी संदर्भ में भगवान के जीवनकाल की एक घटना:

एक अत्यंत दरिद्र कुल में जनमा जंबुक नाम का व्यक्ति। युवा होकर प्रव्रजित हुआ और मुक्ति की खोज में आत्मक्लेश की साधना करने लगा। मुक्ति से दूर गलत रास्ते पड़ गया। अतियों के मार्ग को मुक्ति का मार्ग समझ बैठा। आत्यंतिक कायपीड़न को चित्त-प्रक्षालन की विधि समझ बैठा। जीवन का अधिकांश समय इस मिथ्या मार्ग पर बिताता रहा। पर कुछ भी पल्ले न पड़ा।

एक दिन उसके सौभाग्य से भगवान उस रास्ते से गुजरे। उसकी दयनीय दशा देख कर उसे मंगलमयी मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश दिया। किसी पूर्व जीवन के कुशल कर्म के फलस्वरूप बात उसकी समझ में आयी। गलत रास्ता

त्याग कर विपश्यना साधना का अभ्यास करने लगा। चंद दिनों में ही स्रोतापन्न फललाभी हुआ। इससे उत्साह और बढ़ा। लगातार साधना की निरंतरता बनाए रखते हुए समय पकने पर वह परम विमुक्त अरहंत अवस्था को प्राप्त हुआ। समस्त भवदु:खों से नितांत विमुक्त हुआ। जीवन के संध्याकाल में जब इस अंतिम शरीर को छोड़ने का समय आया तो अपने निरर्थक क्लिष्ट जीवन को त्यागने और सम्यक मार्ग पर चल कर विमुक्त हो जाने की घटना याद कर और धर्म के प्रति कृतज्ञताविभोर होकर उदान की यह हर्षवाणी प्रकट की,

पञ्चपञ्ञासवस्सानि, रजोजल्लमधारयिं।

– पचपन वर्ष तक बिना नहाए शरीर पर धूल-मिट्टी मलते रहा।

भुञ्जन्तो मासिकं भत्तं, केसमस्सुं अलोचयिं।

– एक-एक मास में केवल एक बार बाहर का भोजन करता रहा और अपने सिर और दाढ़ी-मूंछ के बालों का अंगुलियों से लुंचन करते रहा।

एकपादेन अट्ठासिं, आसनं परिवज्जयिं।

– आसन का सर्वथा परित्याग कर दिया और इतने वर्षों तक रात दिन अधिकांश समय दोनों हाथ ऊंचे कर एक टांग पर खड़ा रहता था।

सुक्खगूथानि च खादिं, उद्देसञ्च न सादियिं।

– यदा-कदा सूखी विष्टा खाता रहा पर गृहस्थों के निमंत्रण को नहीं स्वीकारता रहा।

एतादिसं करित्वान, बहुं दुग्गतिगामिनं।

– इस प्रकार अनेक दु:खदायी कर्म करता रहा।

वुय्हमानो महोघेन, बुद्धं सरणमागमं।

– यों दु:खों के महाबाढ़ में बहते हुए मैं भगवान बुद्ध की शरण में आ गया।

सरणगमनं पस्स, पस्स धम्मसुधम्मतं।

– अरे देखो, इस कल्याणकारिणी शरणागमन की महत्ता को देखो! मुक्तिविधायक धर्म की महत्ता देखो!

तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता, कतं बुद्धस्स सासनं।

– मैंने आस्रवहीन अवस्था की तीनों विद्यायें प्राप्त कीं और बुद्ध का शासन पूरा किया यानी उनकी शिक्षा पूरी की।

धन्य बुद्ध! धन्य धर्म! धन्य सफल धर्मपथिक!

इसी संदर्भ में बुद्ध के जीवन-काल की एक और घटना;

हिमवंत के समीप उक्कट्ठा (उत्कृष्ट) नगर में एक वैभव संपन्न ब्राह्मण कुल में उत्पन्न अंगणिक भारद्वाज। युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते विभिन्न लोकीय विद्याओं में और शिल्पों में निष्णात हुआ। परंतु वैराग्य जागने के कारण संन्यासी हो अमरत्व के लिए तप करने निकल पड़ा। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अनेक प्रकार से अग्नि परिचर्या की और शरीर को कष्ट पहुँचाने वाले अनेक प्रकार के बाह्य तप किये। समझता था इससे चित्तशुद्धि होगी, भवबंधन से मुक्ति मिलेगी। पर ऐसा हुआ नहीं। सौभाग्य से बुद्ध जनपद चारिका करते हुए उस प्रदेश में से गुजरे। युवा तापस ने उनका धर्म प्रवचन सुना और अत्यंत प्रभावित होकर उनकी शरण ग्रहण की, प्रव्रज्या ली और विपश्यना साधना विधि सीखकर चिरकाल तक स्मृति और संप्रज्ञान का अभ्यास करते हुए अंततः अरहत्व पद प्राप्त कर लिया। विमुक्ति के सुख से विभोर होकर वह अपनी जन्मभूमि की ओर गया और वहां अपने पूर्व परिवार के अनेक लोगों को उत्साहित कर धर्म में प्रतिष्ठित कर सकने में सफल हुआ।

निष्प्राण निर्जीव कर्मकांडों में और आत्मक्लेशीय मिथ्या तपों में उलझे हुए अनेक लोगों के प्रति असीम करुणा से आप्लावित होकर उन्हें मिथ्या मार्ग से मुक्त कर सत्पथ की ओर लगाने की कल्याण-कामना लिए हुए वह चारिका पर निकल पड़ा। कुरु प्रदेश के कुंडिय नामक निगम से कुछ दूर अरण्य में से गुजरता हुआ, उत्तरापथ की ओर चला तो एक स्थान पर कुछ एक ब्राह्मणों को एकत्र देखा। उनमें से कुछ उसके पूर्व परिचित भी थे। उन्होंने पूछा, "भो! भारद्वाज, तुम्हें यह क्या सूझा? अपनी परंपरा का पथ त्याग कर तुमने यह श्रमण परंपरा का पथ क्यों अपना लिया?"

अंगणिक भारद्वाज ने उन्हें बड़े करुण चित्त से समझाया, "भव-विमुक्ति के लिए चित्तशुद्धि की खोज में वन में अग्नि की उपासना करता रहा और नाना प्रकार के आत्मक्लेश दायक तप करता रहा। पर सब निरर्थक साबित हुए। मैं उनमें इसीलिए उलझा रहा क्योंकि मुझे विशुद्धि के सही मार्ग की जरा भी जानकारी नहीं थी। जब सचमुच कल्याणकारी मार्ग मिला तो निहाल हो गया। कृतकृत्य हो गया। मानव जीवन सफल हो गया।"

"मैं आश्रम से आश्रम, अरण्य से अरण्य ऐसे थोथे कर्मकांड, कायकंटक तप करते हुए इसीलिए भटकता रहा।"

तं सुखेन सुखं लद्धं, पस्स धम्मसुधम्मतं।
तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता, कतं बुद्धस्स सासनं॥

विपश्यना का विशुद्धि-मार्ग कायक्लेश वाले तप के मुकाबले अत्यंत सुखद मार्ग है। साधक अतियों को त्याग कर सुखद मध्यम मार्ग अपनाता है और परम सुख निर्वाण की मुक्त अवस्था प्राप्त कर लेता है। इसीलिए कहता है, "मैंने सुख मार्ग से परम सुख प्राप्त किया। देखो, धर्म की कैसी महानता है! मैंने मुक्ति की तीनों विद्याएं उपलब्ध कीं और भगवान बुद्ध के शासन को पूरा किया। यानी उनकी शिक्षा आद्योपांत पालनकर जीवन-उद्देश्य सिद्ध किया।"

और तत्पश्चात सत्यदर्शी ब्राह्मण भारद्वाज अपने विमलचित्त से लोकहितार्थ उद्घोषणा करता हुआ कहता है;

ब्रह्मबन्धु पुरे आसिं, इदानि खोम्हि ब्राह्मणो।
तेविज्जो न्हातको चम्हि, सोत्तियो चम्हि वेदगू॥

"पहले तो केवल नाम-मात्र के लिए ब्राह्मण था। ब्राह्मणी नाम वाली माता की कोख से जनमा इसीलिए अपने आप को गर्व से ब्रह्मबंधु कहता था। परंतु अब तो नया जन्म हो गया। उन भगवान सम्यक संबुद्ध के उर से उत्पन्न हुआ और उनका ओरस पुत्र हूं जो ब्रह्मभूत हैं, ब्रह्मकाय हैं, धर्मभूत हैं, धर्मकाय हैं। धर्म से मेरा नया जन्म हुआ है, अतः धर्म निर्मित हूं। ब्रह्म का शुद्ध जीवन जीता हूं, अतः अब सही माने में ब्राह्मण हूं।"

"पहले केवल तीन वेदों के ग्रंथ पढ़ लेने के कारण नाम-मात्र के लिए त्रिवेदी था परंतु अब तो तीनों विद्याओं को पूरी करके सही माने में त्रिवेदी हो गया हूं। दिव्य दृष्टि और पूर्व जन्मों की स्मृति ही नहीं, उन दोनों से भी ऊंची तीसरी विद्या यानी आस्रव-क्षय का पूर्ण साक्षात्कार करा देने वाली विद्या प्राप्तकर अब सही माने में त्रिवेदी हूं।"

"पहले तो किसी नदी में स्नान कर लेने के कारण अथवा किन्हीं धर्मशास्त्रों का पारायण कर लेने मात्र से अपने आप को स्नातक कहता था। केवल नाम-मात्र के लिए स्नातक था। परंतु अब तो पावन धर्मगंगा में डुबकी लगा कर स्नातक हुआ हूं। राग, द्वेष और मोह का सर्वथा प्रक्षालन कर अक्षय निर्वाण महोदधि में डुबकी लगा कर सही माने में स्नातक हुआ हूं। केवल नाम-मात्र के लिए नहीं।"

"पहले तो श्रुति-ग्रंथों को पढ़-सुन लेने के कारण अपने आप को श्रोत्रिय कहता था। अब मुक्ति के स्रोत में पड़ कर नितांत विमुक्त हो गया हूं, इसलिए सही माने में श्रोत्रिय हूं।"

"पहले तो वेद के ग्रंथों का पारायण करके अपने आप को नाम-मात्र के लिए ही वेदगू कहता था, पर अब तो सचमुच वेदगू हो गया हूं। स्ववेदन के आधार पर आत्मज्ञान जगा कर अपने मानस के सारे कल्मष-कषाय दूर करके सकल इंद्रिय जगत ही नहीं बल्कि इंद्रियातीत अनंत अक्षय परम सत्य का स्वानुभूति के आधार पर साक्षात्कार करके स्ववेदन के आधार पर वेद पारगू यानी वेदगू हुआ हूं। अतः नाम मात्र का ही नहीं, बल्कि सही वेदगू हूं।"

इसीलिए कहता हूं "पहले मैं केवल नाम-मात्र का था पर अब तो सचमुच सही ब्राह्मण, त्रैविद्य, स्नातक, श्रोत्रिय और वेदगू हूं।"

धन्य है सही ब्राह्मण, धन्य है सही त्रिवेदी, धन्य है सही स्नातक, धन्य है सही श्रोत्रिय और धन्य है सही वेदगू! धन्य है सही विद्या का सही सफल साधक!

आओ! हम भी ऐसे ही सही ब्राह्मण, सही त्रिवेदी, सही स्नातक, सही श्रोत्रिय और सही वेदगू बनें और भव-भव से मुक्त हो कर जीवन को सफल बनाएं और अपना कल्याण साधें।

एक राजघराने की धर्मचेतना

१. मगध का भाग्य जागा

१. मगध का भाग्य जागा

छब्बीस सौ वर्ष पूर्व के उत्तर भारत में १६ प्रमुख जनपद थे– (१) अंग (२) मगध (३) काशी (४) कोशल (५) व्रिजी (वज्जि) (६) मल्ल (७) चेतीय (८) वंस (वंग) (९) कुरु (१०) पंचाल (११) मत्स्य (१२)सूरशेन (१३) अश्वक (१४) अवंती (१५) गंधार और (१६) कंबोज।

इनमें से कुछ एक में गणतंत्र शासन था, बाकी में राजतंत्र।

इनमें से मगध बहुत विशाल और शक्तिशाली जनपद था। वहां के राजवंशीय शासन का शासक था महाराज भाति। उसे अपनी महारानी बिंबि से एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। बिंबि का पुत्र होने के कारण वह बिंबिसार के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बिंबिसार बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। किशोर अवस्था में ही उसके मन में राज्याभिषेक की प्रबल कामना जागी। राजा भाति को अपने पुत्र के प्रति बहुत अनुराग था। उसने पंद्रह वर्ष के किशोर बिंबिसार का राज्याभिषेक कर दिया। स्वयं निवृत्त हो गया। बिंबिसार की महत्त्वाकांक्षा बढ़ती गयी। युवावस्था तक पहुँचते-पहुंचते वह शस्त्रविद्या में निष्णात हो गया और साथ-साथ सैन्य-संचालन के रणकौशल में भी। उसने अपनी सेना को विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित किया। इस विपुल सैन्यबल और अपने युद्ध-चातुर्य से उसने पड़ोस के अंग जनपद को अपने अधीन कर लिया। अंग और मगध के संयुक्त हो जाने पर बिंबिसार की शक्ति बढ़ी। सेना बढ़ी। इस विशाल सेना का नायक होने के कारण वह सेनिय यानी सेनानी बिंबिसार कहलाने लगा। उसकी सेना का झंडा श्वेत था। उस श्वेतकेतु सेना का दबदबा बढ़ा और आसपास के जनपदों पर उसकी धाक जमने लगी।

मगध के पश्चिमोत्तर में कोशल भी एक बहुत विशाल और शक्तिशाली जनपद था। उसका शासक था महाराजा महाकोशल, जिसका पुत्र था प्रसेनजित कोशल और पुत्री थी कोशलदेवी। राजकुमार प्रसेनजित का विवाह मगध के राजा भाति की पुत्री यानी बिंबिसार की भगिनी से हुआ। भाति के उत्तराधिकारी सेनिय बिंबिसार की बढ़ती हुई शक्ति से कोशल-नरेश प्रभावित हुआ। उसने राजकुमारी कोशलदेवी का विवाह युवा मगध नरेश से कर दिया और इस प्रकार उसने अपने संबंध और सुदृढ़ कर लिए। महाराज कोशल ने

अपनी पुत्री को काशी का राज्य दहेज में दे दिया। इससे बिंबिसार की साम्राज्य-शक्ति और बढ़ी। अब वह अंग, मगध और काशी जैसे तीन महाजनपदों का सम्राट हो गया। उसके राज्य-संपद, ऐश्वर्य और सैन्य-शौर्य छलांगे लगा कर बढ़ने लगे और इसके साथ-साथ युवावस्था की कामभोग-लिप्सा भी बढ़ने लगी। अग्रराजमहिषी कोशलदेवी के अतिरिक्त आसपास के राज्यों की देवांगनाओं सदृश राजकुमारियों से और अन्यान्य रूपसियों से उसका रनिवास बढ़ता गया। फिर भी उसकी सौंदर्य-लिप्सा कम नहीं हुई।

सुदूर मद्र (मद्द) देश की राजधानी सागल (आधुनिक पाकिस्तानी पंजाब में लाहौर के समीप स्यालकोट नगर) की राजकुमारी खेमा सुवर्ण-वर्णा थी। सर्वांग सुंदरी थी। उसकी अनिंद्य रूप-माधुरी की चर्चा सुनी तो बिंबिसार ने उससे भी विवाह कर लिया और उसे अपने रनिवास में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

वह जिस किसी जनपद में किसी अपूर्व सुंदरी की चर्चा सुनता तो, उसे प्राप्त करने के लिए छटपटाने लगता। उन दिनों किन्हीं-किन्हीं जनपदों में अपने प्रदेश की सर्वश्रेष्ठ सर्वांग सुंदरी और नृत्य, गीत, वाद्य आदि ललित कलाओं की नितांत निपुणा युवती का चुनाव होता था। जनपद के अनेक राजकुमार, राजपुरुष और शक्तिशाली सामंत इत्यादि उस सौंदर्य-सम्राज्ञी से विवाह करने के लिए आतुर हो जाते थे। इस डर से कि कहीं कोई पारस्पारिक कलह न हो उठे, उस युवती को राजसी सम्मान के साथ नगर-शोभिनी मान लिया जाता था। जनपद-कल्याणी के नाम से अलंकृत किया जाता था और अधिकतर यही होता था कि उसे जनपद की प्रमुख गणिका का जीवन जीना पड़ता था। राज्य की ओर से उसके शरीर की कीमत बहुत ऊंची निर्धारित कर दी जाती थी।

ऐसी ही एक सौंदर्य-सम्राज्ञी थी नगरवधू आम्रपाली जो कि वज्जि (लिच्छवी) गणराज्य की जनपद-कल्याणी थी। उसकी चर्चा सुनी तो बिंबिसार उसे प्राप्त करने के लिए विह्वल हो उठा। वज्जि राज्य से मगध के संबंध बहुत अच्छे नहीं थे। वैसे भी किसी जनपद-कल्याणी से विवाह-संबंध नहीं किया जा सकता था। अतः अपनी कामपिपासा बुझाने के लिए वह अपने कुछ सैनिक साथियों के साथ बार-बार भेष बदल कर वज्जि राजधानी वैशाली जाता रहता और आम्रपाली के शरीर-सौंदर्य का उपभोग करता रहता।

इसी प्रकार उज्जैन की जनपद-कल्याणी, पद्मावती की ख्याति सुन कर वह वहां भी पहुँचा।

हो सकता है इसी प्रकार अन्य प्रादेशिक सौंदर्य सम्राज्ञियों के पीछे भी वह भौंरे की तरह मँडराता रहा हो। परंतु आम्रपाली और पद्मावती से उसका संबंध जगजाहिर हुआ। क्योंकि दोनों को ही उससे एक-एक पुत्र की प्राप्ति हुई। बिंबिसार के संयोग से आम्रपाली ने विमलकोण्डञ्ञ को और पद्मावती ने अभय को जन्म दिया।

धन-मद और राज-मद ने उसका काम-मद बहुत उभारा। परंतु फिर भी हमें बिंबिसार में मानवी मूल्य भी दीख पड़ते हैं। इन भाड़े की गणिकाओं से उत्पन्न संतान को उसने सहर्ष स्वीकार किया। उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व से विमुख नहीं हुआ। गर्भ अवस्था से ही उनके भरण-पोषण के लिए अपनी ओर से पर्याप्त धन भेजता रहा और फिर उनके लालन-पालन के लिए भी। पद्मावती ने सात वर्ष पश्चात पुत्र अभय को उसके पिता के पास भेज दिया तो बिंबिसार ने उसके साथ रंचमात्र भी दुर्व्यवहार नहीं किया। अन्य राजकुमारों के मुकाबले उससे किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया। राजकुमार अभय को अन्य राजकुमारों की ही भांति राजमहल में पाला गया। बिंबिसार के मन में राजकुमार अभय के प्रति वैसा ही स्नेह और वात्सल्य था, जैसा कि अन्य पुत्रों के प्रति। आगे जा कर एक बार तो उसे सात दिनों के लिए मगध देश की राजगद्दी पर भी बिठाया।

बिंबिसार की और भी राजमहिषियां थीं ही। अतः यह विश्वास किया जा सकता है कि उसके और भी अन्य संतानें रही होंगी। परंतु विपश्यना के पुरातन इतिहास का अनुसंधान करते हुए जो अन्य नाम हमारे सामने आते हैं, वे हैं राजकुमार अजातशत्रु, राजकुमार शीलव, राजकुमार चुंद और राजकुमारी चुंदी। स्पष्ट है बिंबिसार को अपना परिवार बहुत प्रिय था, राजमहिषियां भी, राजपुत्र भी, राजपुत्रियां भी।

साथ ही साथ राजा बिंबिसार धार्मिक विचारों का व्यक्ति था। उसकी राजधानी राजगृह में जो भी संत, संन्यासी आते उनकी आवभगत करता, उन्हें सम्मानित करता, उनके धर्मोपदेश सुनता और प्रचुर दान-दक्षिणा देता।

एक दिन वह अपने राजमहल के बरामदे में खड़ा था। सामने राजपथ पर कुछ लोगों की भीड़ देखी और देखा कि एक भला संन्यासी नीची नजर किये हुए नपे-तुले कदमों से राजपथ पर चला जा रहा है। उसने फटे-पुराने गेरुए वस्त्र पहन रखे हैं। किसी घर के सामने भिक्षा-पात्र लिये नीची नजर किये हुए रुकता है। गृहस्वामिनी उसे भिक्षा दे कर अपने आप को कृतार्थ मानती है।

उसकी ओर एक टक देखती रह जाती है। और भी पथ पर चलने वाले लोग इस संन्यासी को देखते हैं तो निर्निमेष देखते ही रह जाते हैं। मटमैले फटे-चिथड़े की वेशभूषा उसके राजसी व्यक्तित्व को छिपाने में सर्वथा असमर्थ थी। जो देखता वही उसकी ओर आकर्षित हो जाता। इसीलिए उसके ईद-गिर्द लोगों की भीड़ थी।

राजा बिंबिसार भी उसके इस चुंबकीय व्यक्तित्व के प्रति खिंच गया। उसने संन्यासी के पीछे अपने दूत भेजे – यह जानने के लिए कि वह भिक्षाटन के बाद कहां टिकता है? दूतों ने सूचना दी कि वह नगर के बाहर एक वृक्ष के नीचे भोजन करने बैठा है। राजा ने अपना मुकुट पहना और कुछ मंत्रियों के साथ गंतव्य स्थान पर पहुँचा। तब तक युवा संन्यासी भिक्षा-आहार ले चुका था। उसे इतने समीप से देखते हुए राजा बिंबिसार ठगा-सा देखता ही रह गया। उसके अलौकिक सौंदर्य पर राजा की दृष्टि बँध गयी। ऐसा भव्य व्यक्तित्व उसने अपने जीवन में पहले कभी नहीं देखा था। सिर के सिरे पर एक उपशीर्ष, जिस पर छोटे-छोटे कटे हुए सुंदर घुँघराले काले बाल, जो उसे एक जटा का आभास दे रहे थे। चौड़ा ललाट, धनुष सदृश काली लम्बी भौंहों के बीच उगे हुए थोड़े से श्वेत बाल, अपनी अनोखी भव्यता प्रकट कर रहे थे। बड़ी-बड़ी आंखें, जिनमें पवित्रता उमड़ रही थी। लंबी नाक, शेर की-सी सुंदर ठोड़ी, उन्नत स्कंध, चौड़ी छाती, आजानुबाहु, मुखमंडल पर अपूर्व शांति और कांति, चेहरे के ईद-गिर्द एक ओजस्वी प्रभामंडल।

राजा ने सोचा यह अवश्य ही किसी कुलीन घराने का व्यक्ति है और किसी ऊंचे उद्देश्य से इसने अपना घर त्यागा है। यकायक उसके मन में बिजली सी कौंधी कि कहीं यह राजकुमार सिद्धार्थ गौतम तो नहीं?

सिद्धार्थ के पिता महाराज शुद्धोदन और बिंबिसार के पिता परस्पर परम मित्र थे। अपने पिता से ही बिंबिसार ने शाक्य कुल की बड़ी ख्याति सुनी थी। उसने यह भी सुना था कि महाराज शुद्धोदन के घर एक राजकुमार जनमा है जिसके शारीरिक लक्षणों को देख कर देश के प्रसिद्ध ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि यदि वह गृहस्थ रहा तो चक्रवर्ती सम्राट होगा और विरक्त हुआ तो सम्यक संबुद्ध होगा। कहीं यह राजकुमार सिद्धार्थ ही तो नहीं?

श्रेणिक बिंबिसार ने कौतूहल मिटाने के लिए पूछा,

“योगिराज! क्या आप शाक्य पुत्र सिद्धार्थ हैं?”

"हां, ऐसा ही है, महाराज!"

तरुण गृहत्यागी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया। बिंबिसार का तन-मन रोमांचित हो उठा। तपस्वी के प्रति उसके मन में बड़ा अपनत्व भाव उमड़ा। उसने भाव-विभोर होकर कहा, "बंधु, भिक्षु का जीवन तुम्हारे अनुकूल नहीं है। तुम्हारा जीवन तो राज्य-संचालन के उपयुक्त है। तुम शाक्यवंशीय राज्य छोड़ आये तो छोड़ आये। आओ! मैं तुम्हें अपने राजसी ऐश्वर्य में भागीदार बनाने के लिए प्रस्तुत हूं।"

शाक्यों के गणतंत्रीय राज्य के मुकाबले मगध का एकतंत्रीय साम्राज्य कहीं अधिक विशाल और प्रभुतासंपन्न था। पर यह प्रस्ताव उसे नहीं भाया। संन्यासी सिद्धार्थ ने इसे मुस्कराते हुए दृढ़तापूर्वक ठुकरा दिया। जिस राजवैभव के आकर्षण को मलमूत्र की तरह त्याग कर आ गया था, उसे पुनः कैसे स्वीकार करता? वह तो परम सत्य की खोज में निकला था। मुक्ति के शाश्वत ऐश्वर्य का अन्वेषक। उसके लिए यह बृहत, पर भंगुर राजसी ऐश्वर्य तुच्छ और त्याज्य ही था।

श्रेणिक बिंबिसार ने सिद्धार्थ का निश्चय दृढ़ देखा तो श्रद्धाविभोर हुआ और हाथ जोड़ कर बोला, "आपको शीघ्र सम्यक संबोधि प्राप्त हो, यही मेरी मंगल कामना है। परंतु साथ ही एक प्रार्थना भी है कि बोधि प्राप्त होने पर मेरे इस नगर को और मुझे कृतार्थ करने के लिए और मुक्ति के मार्ग का उपदेश देने के लिए यहां अवश्य आयें।"

सिद्धार्थ ने मुस्कराते हुए स्वीकृति दी।

बिंबिसार भावविभोर हो अपने महल लौटा। मन में यही प्रश्न उठता रहा कि क्या कुमार सिद्धार्थ सचमुच सम्यक संबुद्ध होगा? आजकल अनेक आचार्य इस बात का दावा करते हैं कि वे बुद्ध हो गये हैं। पर कौन जाने सचमुच बुद्ध हुए हैं या नहीं? परंतु लगता है यह व्यक्ति तो अवश्य बुद्ध होगा। इसके बारे में तो शीर्षस्थ ज्योतिषियों की भविष्यवाणी है और इसका ऐसा अप्रतिम भव्य व्यक्तित्व है।

छह वर्ष बीतते-बीतते गौतम सम्यक संबुद्ध बने। उन्होंने स्वयं अमृत का साक्षात्कार किया। संसार के दुखियारे लोगों के लिए भी अमृत के दरवाजे खुलें, ऐसी अनंत करुणाजन्य अंतर्चेतना जागी और धर्मचक्र प्रवर्तन करने के लिए ऋषिपत्तन मृगदाय पहुँचे। यहां उनके पांच पूर्व साथी धर्म का लाभ लेकर अरहंत हुए। भगवान ने वहीं उनके साथ वर्षावास किया।

वर्षावास के दौरान वाराणसी का धनी वणिक पुत्र और उसके चौवन साथी संगी भगवान के संपर्क में आये और विपश्यना साधना द्वारा अरहत्व फल प्राप्त किया। वर्षावास के बाद धर्मचारिका आरंभ हुई। साठ अरहंत भिक्षुओं को चारिका के लिए अलग-अलग स्थानों पर भेजा ताकि वे अधिक से अधिक लोगों पर अनुकंपा करते हुए उनके हितसुख के लिए शुद्ध धर्म का ज्ञापन करें। भगवान स्वयं भी इसी निमित्त बोधगया लौट आये। वहां उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप नामक तीन अग्निहोत्री भाइयों का उनके एक हजार शिष्यों सहित उद्धार किया। वे सभी शुद्ध धर्म की अंतर्साधना करके परम मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए।

मगध नरेश श्रेणिक बिंबिसार को दिया हुआ वचन भगवान बुद्ध को याद था। उसे पूरा करने के लिए वह इस बृहत संघ के साथ राजगृह पहुँचे।

बिंबिसार ने सुना तो अत्यंत श्रद्धावनत हो अपने मंत्रियों, राजदरबारियों और नगर के प्रमुख ब्राह्मणों और श्रेष्ठियों को साथ ले कर भगवान के दर्शनों के लिए वहां पहुँचा, जहां भगवान रुके हुए थे।

उरुवेल काश्यप मगध देश का परम पूज्य धर्माचार्य था। बहुत बड़ी संख्या में लोग उसके शिष्य, अनुयायी और भक्त थे। वे यह देख कर आश्चर्य-चकित हुए कि ऐसा लब्धप्रतिष्ठ धर्माचार्य अपने दोनों छोटे भाइयों और उनके एक हजार शिष्यों की बृहत मंडली को लिए हुए श्रमण गौतम के साथ क्यों है? और इन सब ने अपना वेश क्यों बदला है? सिर पर की राख मली हुई गांठ-गठीली जटाएं, दाढ़ी और मूंछ सब क्यों मुड़वा ली है? क्या ये सभी श्रमण गौतम के शरणागत शिष्य हो गये हैं? अथवा श्रमण गौतम ही इनका शिष्य हो गया है?

उनके मन की इस शंका का निवारण करते हुए उरुवेल काश्यप ने उपस्थित जन-समुदाय के सामने भगवान को नमस्कार किया और स्वयं उनके शिष्य होने की बात प्रकट की। उसने यह उद्घोषणा की, "ये भगवान हैं, अरहंत हैं, सम्यक संबुद्ध हैं, विद्या और आचरण दोनों में संपन्न हैं, सुगत हैं। सारे लोकों के जाननहार हैं, सर्वज्ञ हैं। जैसे बिगड़े हुए घोड़ों को कोई कुशल सारथी वश में करके सुधार लेता है वैसे ही ये भी बिगड़े हुए लोगों को सुधारने में बेमिसाल हैं। ये देवताओं और मनुष्यों के शास्ता हैं, शिक्षक हैं। ऐसे हैं ये भगवान बुद्ध!"

ऐसा सुन कर श्रेणिक बिंबिसार सहित सारी श्रोतामंडली भगवान के चरणों में श्रद्धा से झुक गयी। भगवान ने अपनी अमृतवाणी से उन्हें धर्म की आनुपूर्विक देशना दी। शुद्ध धर्म की प्रारंभिक रूप-रेखा समझाते हुए जब देखा कि लोगों के चित्त ऋजु हैं और ग्रहण करने योग्य हैं तो उन्हें चार आर्य-सत्यों की गंभीर देशना दी। दु:ख के कारण और उसके निवारण का मार्ग समझाते हुए विपश्यना विधि समझायी। बिंबिसार सहित जो-जो पूर्व पारमी संपन्न थे उनका चित्त एकाग्र हुआ। भीतर पंचस्कंध के उदय-व्यय की अनुभूति होने लगी और ऐसा होते-होते एकाएक इंद्रियातीत परम सत्य की अनुभूति हुई; जो नित्य है, ध्रुव है, जहां न कुछ उदय होता है और न व्यय। उत्पाद व्यय वाले लौकिक क्षेत्र का जहां पूर्णतया निरोध हो जाता है। उन सब ने प्रत्यक्ष अपने अनुभव से जाना कि सारा नाम-रूप का पंचस्कंधीय क्षेत्र जो समुदय धर्मा है वह इस अवस्था में पूर्णतया निरुद्ध हो जाता है। अतः जो उत्पन्न धर्मा है वह निरोध धर्मा ही है। यह सत्य प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लिया। यों पहली बार अमृतदर्शी हुए तो अनार्य से आर्य हो गये। स्रोतापन्न हो गये। मुक्ति के स्रोत में पड़ गये। अब दुनिया की कोई शक्ति उन्हें मुक्त होने से रोक नहीं सकती। अब उनकी अधोगति सदा के लिए निरुद्ध हो गयी। मनुष्य, देव या ब्रह्मलोकों में अधिक से अधिक सात जन्म ले कर अंततः सर्वथा विमुक्त अरहंत पद पाने के अधिकारी हुए। स्रोतापन्न की ऐसी अवस्था प्राप्त हुई जहां व्यक्ति किसी शील या व्रत की अतियों में जा कर उनके द्वारा ही मुक्त हो जाने की सारी भ्रामक आसक्तियां छोड़ देता है, जहां इस शरीर और चित्त के प्रपंच के प्रति **मैं-मेरे** का भाव सदा के लिए टूट जाता है और जहां मार्गदर्शक और मार्ग के प्रति सारी शंकाएं विदीर्ण हो जाती हैं क्योंकि साधक प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा परम सत्य को जान कर स्वीकार करता है।

अनार्य अवस्था से ऐसी आर्य अवस्था प्राप्त हो जाने पर सभी कृतज्ञता-विभोर हो उठे। श्रेणिक बिंबिसार ने अपनी अपरिमित श्रद्धा प्रकट करते हुए कहा;

“आश्चर्य है भंते भगवान! अत्यंत आश्चर्य है! अत्यंत अद्भुत है आप की धर्मदेशना! जैसे कोई औंधे को सीधा कर दे, ढके को उघाड़ दे, भूले-भटके को रास्ता दिखा दे, अँधेरे में प्रकाश का दीपक जला दे; ताकि जिनके आंखें हैं वे रास्ता देख सकें। आपने भीतर की ऐसी सच्चाई दिखाई जो अब तक अज्ञात थी। आज से मुझे बुद्ध के प्रति, उनके सिखाए हुए धर्म के प्रति और उस धर्म

के पथ पर चल कर निर्मल चित्त हुए साधक संघ के प्रति, आजीवन शरणागत मानें और अपना उपासक स्वीकारें!"

अब उसकी जीवनधारा ही बदल गयी। काम-कीट की तरह रति-रस में निमग्न रहने वाला व्यक्ति धर्म-रस चख कर निहाल हो गया। जान गया अपने अनुभव से कि **'सब्बरसं धम्मरसो जिनाति'**। सचमुच सारे रसों से बढ़ कर होता है धर्म का रस। ऐसा धर्म-रस सब चखें! और उसी समय उसे अपना राजपरिवार स्मरण हो आया। अपनी प्यारी पत्नियों, पुत्रों और पुत्रियों को भी ऐसा धर्मलाभ मिले, इसी कुशल कामना से उसने भगवान के साथ सभी भिक्षुओं को दूसरे दिन सुबह भोजन के लिए आमंत्रित किया। भगवान ने मौन रह कर स्वीकृति दी। दूसरे दिन भिक्षु-संघ सहित भगवान भिक्षा के लिए राजमहल पधारे। बिंबिसार ने अत्यंत सम्मानपूर्वक उन्हें भोजन करवाया। तत्पश्चात भगवान को ऊंचे आसन पर बैठा कर परिवार सहित स्वयं नीचे आसन पर बैठ कर भगवान का कल्याणकारी धर्मोपदेश सुना। कानों में शुद्ध धर्म का अमृत रस बहा। वहीं बैठे-बैठे उसे अपनी प्रजा का भी ध्यान आया। मेरी सारी प्रजा भी तो मेरी संतान ही है। सब को यह विशुद्ध मुक्ति का मार्ग मिले। यह तभी संभव है जब कि भगवान लंबे समय तक राजगृह में ही विहार करें और भविष्य में भी समय-समय पर यहां पधारते रहें।

राजनगरी राजगृह के कल्याण के लिए कोई ऐसा उचित स्थान हो जहां भिक्षु साधक संघ सहित भगवान रह सकें और शुद्ध धर्म के मार्ग पर चलने के लिए नागरिकों का और जनपदवासियों का मार्ग-निर्देशन कर सकें। यह स्थान राजनगरी के कोलाहल से दूर हो, क्योंकि ध्यान तो शांत स्थान पर ही किया जा सकता है। परंतु राजनगर से इतना दूर भी न हो कि लोग सुविधापूर्वक जा ही न सकें। एकाएक उसे अपना वेणुवन याद आया। यह स्थान इस काम के लिए सर्वथा उपयुक्त था। अत्यंत विनीत भाव से उसने हाथ जोड़ कर भगवान से अपने मन की बात कही और वेणुवन के दान की धर्मकामना प्रकट की। भगवान ने मौन रह कर स्वीकृति दी। बिंबिसार फिर कृतज्ञता-विभोर हुआ। **'सब्बदानं धम्मदानं जिनाति'**। धर्म का दान सभी दानों से श्रेष्ठ है। भगवान ने राजगृह का वेणुवन, साधक संघ के लिए स्वीकार कर लिया। मगध-नरेश धन्य हुआ, "यहां अनेक लोग शुद्ध धर्म से लाभान्वित

होंगे। भव-विमुक्ति के मार्ग पर आरूढ़ हो सकने की विपश्यना-विधि सीख पायेंगे। मेरा परिवार धन्य होगा। मेरी प्रजा धन्य होगी।"

और सचमुच ऐसा ही हुआ। वेणुवन के कलंदक निवाप में साधक संघ का पहला विहार बना। मगध का भाग्य जागा। राजपरिवार के और राजनगर तथा मगध राष्ट्र तथा उसके बाहर के भी अनेक लोग शुद्ध धर्म के संपर्क में आये और कल्याण-लाभी हुए।

कृतज्ञता के मोदभरे शब्दों में श्रेणिक बिंबिसार ने कहा;

"भंते भगवान! मैं कितना भाग्यशाली हूं! जब मैं राजकुमार था तो मेरे मानस में पांच बड़ी अभिलाषाएं जागीं और वे पांचों की पांचों पूरी हुईं।

पहली अभिलाषा यह थी कि मेरा राज्याभिषेक हो और वह हुआ।

दूसरी अभिलाषा यह थी कि मेरे शासनकाल में ही कोई व्यक्ति सम्यक संबुद्ध बने और उसका मेरे राज्य में पदार्पण हो, और ऐसा हुआ।

तीसरी अभिलाषा यह थी कि मैं उनका अभिनंदन-अभिवादन कर सकूं, और ऐसा हुआ।

चौथी अभिलाषा यह थी कि भगवान बुद्ध मुझे धर्मोपदेश करें और ऐसा हुआ।

और मेरी पांचवीं और सबसे बड़ी अभिलाषा यह थी कि मैं भगवान बुद्ध के उपदेशों को हृदयंगम कर सकूं, और ऐसा ही हुआ, भंते भगवान!

मेरी पांचों इच्छाएं पूरी हुईं। सचमुच मैं बड़ा भाग्यशाली हूं।"

श्रेणिक बिंबिसार सचमुच बड़ा भाग्यशाली था।

२. रूप गर्विता खेमा

उन दिनों मद्र देश की राजधानी का नाम सागल था, जिसे आज स्यालकोट कहते हैं। सागल की राजकुमारी खेमा अपूर्व सुंदरी थी; सुवर्णवर्णा थी; रूप-राशि थी। मगध सम्राट बिंबिसार के यहां विवाहित होकर राजगृह आयी तो महारानी कोशलदेवी उस समय अग्र राजमहिषी थी। परंतु मद्र जैसे छोटे से प्रदेश की राजकुमारी होते हुए भी बिंबिसार ने उसे कोशलदेवी के समकक्ष अग्र राजमहिषी का ही पद दिया। यह उसके अपूर्व सौंदर्य के कारण ही हुआ। सारे रनिवास में उस जैसी रूपसुंदरी और कोई नहीं थी। उन दिनों का सौंदर्य-उपासक सम्राट बिंबिसार अंतःपुर में उसके ईद-गिर्द भँवरे की तरह मँडराया करता था। इसी कारण उसे अपने रूप-सौंदर्य पर बहुत नाज था, गर्व था, अभिमान था। इस कारण वह लंबे अरसे तक भगवान बुद्ध के संपर्क में नहीं आयी। उनसे कतराती रही, क्योंकि वे रूप की निंदा करते थे, रूप में दोष देखते थे, रूप के दोष दिखाते थे। बिंबिसार पर भी इसका असर हुआ था। अब बिंबिसार पहले वाला बिंबिसार नहीं रह गया था। अब पहले की भांति वह काम-वासनाओं का गुलाम नहीं रह गया था। रूपवती खेमा के लिए यह असह्य था।

बिंबिसार अब सचमुच बदल गया था। जीवन के इकतीसवें वर्ष में जब वह पहली बार सम्यक संबुद्ध के संपर्क में आया और उनके मार्ग-निर्देशन पर स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त की तो सारा जीवन ही बदल गया उसका। सद्गृहस्थ की सारी पारिवारिक जिम्मेदारियों और राज्यशासन के सारे उत्तरदायित्त्वों को पूर्ववत भली-भांति निभाते हुए भी अब उसमें बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया था। अब उसमें निरंकुश शासक की-सी पहले वाली उद्दंडता नहीं रह गयी थी। अब वह पहले की तरह दूर-दूर देश की जनपद-कल्याणियों के पीछे दौड़ने वाला कामुक बिंबिसार नहीं रह गया था। अपने इस बदले हुए स्वभाव को देख कर उसे स्वयं बहुत प्रसन्नता थी। बहुत संतुष्टि थी।

यह लोकमान्यता थी कि शासन करने वाला व्यक्ति जाने-अनजाने अनेक ऐसे दुष्कर्म कर ही लेता है, जिनकी वजह से उसे नरक की योनि मिलती है। परंतु अब तो विकार-विमुक्ति की ऐसी विद्या मिली, जिसके कारण स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त हुई। अधोगति की ओर ले जाने वाले सारे भवकर्म-संस्कारों का उन्मूलन हो गया। भविष्य में ऐसा कोई कर्म कर ही नहीं सकता था, जो नरक

की ओर ले जाए। यद्यपि अभी सारे भवों से नितांत विमुक्ति नहीं मिली; परंतु नरक से, अधोगति से तो नितांत विमुक्ति मिल ही गयी थी।

अन्यान्य धर्माचार्यों ने विकार-विमुक्ति के अनेक उपदेश दिये, परंतु इस महापुरुष ने तो विकार-विमुक्ति की सक्रिय विद्या दी। अपने भीतर विकारों को तटस्थ भाव से देखते हुए उन्हें क्षीण कर सकने का एक सरल, पर प्रभावशाली उपाय दिया और उसका अभ्यास कर प्रत्यक्ष लाभान्वित भी हुआ।

बिंबिसार को अपने परिवार के लोग बहुत प्रिय थे। अतः चाहने लगा कि उन्हें भी यह शांति-प्रदायिनी विद्या मिले। उनका भी कल्याण हो। उसे अपनी प्रजा बहुत प्रिय थी। अतः चाहने लगा कि उसकी प्रजा भी भगवान के बताये हुए मार्ग पर चल कर अपना कल्याण साध ले। परंतु यह भी जानता था कि इसके लिए किसी पर दबाव नहीं डालना चाहिए। अध्यात्म का जो मार्ग जिसे रुचिकर हो, वह उसे स्वेच्छा से अपनाये; परंतु अपनी ओर से तो इस मार्ग की ओर ले जाने के लिए प्रेरित करता ही रहता था। प्रेरणा देने का काम भी बहुत समझदारी के साथ करता था, जिससे किसी को यह न लगे कि सम्राट आग्रही है।

उसे रानी खेमा भी बहुत प्रिय थी। अतः चाहता था कि वह भगवान के संपर्क में आये और धर्म सीखे, पर यह भी जानता था कि उसे भगवान से वितृष्णा है। उनके द्वारा की गयी रूप-भर्त्सना से वितृष्णा है। इसलिए वह रूपमानिनी भगवान के दर्शन और उनके उपदेश सुनने के लिए एक बार भी नहीं आयी। पहली बार जब इसी उद्देश्य से भगवान को अपने घर निमंत्रित किया और भोजनदान दिया कि राजपरिवार के सभी लोग उनके संपर्क में आयें, तब भी खेमा दूर ही रही। नगर में वेणुवन का दान देकर भगवान को कुछ समय के लिए राजगृह में रहने का शुभ संकल्प भी इसीलिए किया कि उसके परिवार और राज्य के लोग भगवान के संपर्क में आयें और शुद्ध धर्म सीख कर शांति-लाभ लें। परंतु खेमा कभी वेणुवन नहीं गयी।

बरस-पर-बरस बीतते गये। भगवान तथा उनके शिष्य अन्य अनेक आर्य संतों के तप से वेणुवन की तपोभूमि परम पावन हो उठी। तप्त संसार के व्याकुल, व्यथित लोगों के लिए शांति की शीतल निर्झरिणी लहराने लगी। उस वन-प्रदेश में जो आता उसे ही शांति मिलती। लोग भगवान के उपदेश सुनते। उनकी बतायी हुई विपश्यना विधि से ध्यान करते और दुःख-विमुक्त होते। राजपरिवार के अनेक लोगों ने भगवान के सान्निध्य का लाभ उठाया, पर मानिनी खेमा इस लाभ से वंचित ही रही।

बिंबिसार खेमा के इस व्यवहार से दुःखी था। वह हृदय से चाहता था कि खेमा भगवान के उपदेश सुने। उनसे साधना सीखे और अपना मंगल साध ले। परंतु उसने परिवार के अथवा राज्य के किसी व्यक्ति पर इस बारे में कभी कोई दबाव नहीं डाला। अतः खेमा पर भी कोई दबाव नहीं डालना चाहता था। अंततः उसने एक युक्ति सोची।

खेमा को गायन विद्या से बहुत प्रेम था। अच्छे-अच्छे संगीतकार और गायक उसके मनोरंजन के लिए अंतःपुर में बुलाये जाते थे। बिंबिसार ने वेणुवन की मनोरमता पर कुछ गीत लिखवाये और कुछ एक अच्छे गायकों को वे गीत खेमा को सुनाने के लिए भेजा। वेणुवन का नंदनवन जैसा वर्णन सुन कर उसके मन में यह अभिलाषा जागी कि वह वेणुवन की सैर करने जाय, परंतु ऐसे समय, जब कि भगवान भिक्षाटन के लिए बाहर गये हुए हों। महाराज बिंबिसार ने ऐसा ही प्रबंध कर दिया। राजपरिवार के कुछ लोगों और सेवक-सेविकाओं के साथ राजरानी खेमा को वेणुवन भेज दिया।

खेमा वेणुवन पहुँची। वहां की नैसर्गिक सौंदर्य-सुषमा और शांतिप्रद वातावरण देख कर वह अत्यंत प्रभावित हुई। जैसा सुना था, उससे भी कहीं बढ़ कर मनोरम पाया इस वेणु उद्यान को। सारा तपोवन वृक्ष-वल्लरियों से हराभरा, प्रफुल्लित फूलों से लदा हुआ। कोयल की मीठी कुहुक, नानारंगी विहगों के कलरव, नृत्य करते मयूरों की केकाध्वनि और भँवरों की गुंजार से गुंजित वह नैसर्गिक वाद्यवृंद, उसके मन को बहुत भाया। टहलने के लिए बड़ी सुंदर और साफसुथरी वीथियां, स्थान-स्थान पर तापसों के निवास और ध्यान के अनुकूल आवास। चारों ओर शांति ही शांति। दूर-दूर तक फैले हुए उस तपो-उद्यान की सैर करते-करते उसे समय का भान ही न रहा। कहां राजमहलों का घुटनभरा वातावरण, ईर्ष्या-द्वेषभरी अशांति और कहां यह प्रकृति की उन्मुक्त मधुरिमा और तपोभूमि की अगाध शांति। घूमते-घूमते बहुत समय बीत गया। भगवान और भिक्षु-संघ भिक्षाटन से लौट आये। उसने देखा अनेक स्थानों पर पेड़ों के नीचे अथवा फूस से छाये मंडपों के तले अनेक विपश्यना योगी ध्यान कर रहे हैं। उनमें से अनेक युवक हैं। उन्हें देख कर उसके मन में यह भाव जागा कि यह उम्र ध्यान करने योग्य नहीं है। इस उम्र में तो गृहस्थ जीवन के कामभोग का सुख भोगना चाहिए। ध्यान वृद्धावस्था के लिए ही उपयुक्त है। ये लोग अपनी युवावस्था क्यों नष्ट कर रहे हैं?

इन्हीं विचारों में रमती हुई वह उस स्थान पर पहुँची, जहां भगवान की गंध कुटी थी। उसके समीप एक पेड़ के नीचे स्वयं भगवान बैठे थे। जिन्हें

टालना चाहती थी उन्हीं का सामना हो गया। भगवान ने नजर उठा कर खेमा की ओर देखा। उनकी आंखों में असीम करुणा थी। परंतु खेमा ने तो सदा वासना भरी आंखें ही देखी थी। यहां इन आंखों में तो वासना का नामोनिशान नहीं। उसे कुछ अच्छा नहीं लगा। भगवान ने एक बार देख कर उपेक्षा से अपनी आंखें फेर लीं। रूपगर्विता खेमा के दर्प को बड़ी चोट लगी। उसे जो देखता, एकटक देखता ही रह जाता। उसके रूप-लावण्य का ऐसा तीव्र आकर्षण था। आज पहली बार उसने देखा कि किसी पुरुष ने उसे एक नजर देख कर अपनी आंखें फेर लीं। उसे यह सहन नहीं हुआ।

भगवान ने देखा, खेमा के पास अनेक जन्मों में अर्जित प्रभूत पुण्य पारमिताओं का संग्रह है। परंतु इस समय उसके लिए कोई बहुत बड़ा अंतराय जागा हुआ है। भगवान ने उसका मनोभाव जाना। इस समय की मनःस्थिति में उस रूपमुग्धा को शब्दों द्वारा धर्म नहीं समझाया जा सकता। यह सुनेगी भी नहीं, सुनेगी तो समझेगी भी नहीं। इसे तो ऐसे ही धर्म समझाया जाय, जैसे यह समझ सके। महाकारुणिक ने धर्ममय ऋद्धिबल का उपयोग किया। खेमा ने देखा भगवान के समीप एक अत्यंत रूपवती देवांगना उपस्थित हो गयी है और उनकी सेवा में लग गयी है। उन पर पंखा डुलाने लगी है।

खेमा उसकी रूपशोभा देख कर आश्चर्यचकित रह गयी। यह देवलोक की अप्सरा-सी, ऐसा रूप तो उसने पहले कभी देखा ही नहीं था। अनुपम नारी-सौंदर्य की सजीव प्रतिमा, अंग-अंग लावण्य से भरपूर। अरे! मैं तो इसकी परिचारिका बनने योग्य भी नहीं। जिसकी सेवा में ऐसी अप्सराएं नियत हों, वह मेरी ओर आंख उठा कर क्यों देखे भला? रूप-सौंदर्य का ऐसा समुच्चय! खेमा विस्मय-विमुग्ध हो कर उस अप्सरा को देखती रही, देखती रही।

कुछ देर में उसने देखा कि यह नवयौवना धीरे-धीरे प्रौढ़ा हो गयी। सौंदर्य की आभा ढलने लगी और देखते-ही-देखते, अरे! यह क्या हुआ? यह तो वृद्धा हो गयी। इसकी सुंदर काली केशराशि को क्या हुआ? कैसी हिम-सी सफेद हो गयी। बिखरे-बिखरे, रूखे-सूखे बाल, जैसे किसी पक्षी का घोंसला हो। और वह आभायुक्त चेहरा, क्या हो गया इसे? कैसा विवर्ण, कैसा विकृत! कान किस कदर सिकुड़ गये। वह नयन-कमल किस प्रकार गढ़ों में धँस गये! वह मोतियों जैसी शुभ्र दंतपंक्तियां, कहां गयीं? एक भी दांत नहीं बचा मुँह में। पोपले मुँह से गिरती लार इस वृद्धा से सँभाले भी नहीं सँभलती। यह क्या हो गया चेहरे पर? चेहरे पर ही नहीं, सारे शरीर पर झुर्रियां ही झुर्रियां। हड्डियों का ढांचा, जिस पर यहां-वहां उभरी बदसूरत नसें और तिस पर ये झुर्रियां। अरे! देख,

इस अस्थि-कंकाला नारी की कमर झुकती जा रही है, झुकती जा रही है। डंडे के सहारे खड़ी है। दुर्बलता के कारण हाथ कांपते हैं, पांव कांपते हैं, सारा शरीर कांपता है। अरे! यह तो अब डंडे के सहारे भी नहीं टिक सकती। झुकते-झुकते गिर ही पड़ी। हाथ में पंखा भी नहीं सँभाल पा रही। वह भी छूट कर गिर पड़ा हाथ से। अरे! यह तो ढेर हो गयी। उखड़ी-उखड़ी सांस आ रही हैं। यह देखो, अब तो सांस भी रुक गयी। ओह! यह हड्डियों का ढेर। झुर्रियों भरी शिथिल लटकती चमड़ी का ढेर। अरे! यह तो सचमुच ढेर हो गयी। मृत हो गयी। मुर्दा हो गयी। सचमुच मर ही तो गयी।

ओह! ऐसे सुंदर रूप की यह अंतिम परिणति? खेमा के मन में एकाएक बिजली-सी कौंधी। क्या मेरी भी यही दशा होगी? मेरा रूपलावण्य भी ऐसे ही जर्जरित हो जायगा? ऐसे ही निष्प्राण हो जायगा? सचमुच यही तो होगा!

बड़ा धर्मसंवेग जागा। बड़ा धर्मसंवेग जागा खेमा के मन में। ऐसी जरा-धर्मा, मरण-धर्मा, अशुचि-धर्मा काया के प्रति कितना तादात्म्य, कितना चिपकाव, कितनी आसक्ति? एकाएक अनेक जन्मों की संचित पुण्य पारमिताओं का धर्मबल जाग गया। भगवान ने देखा, अब इसकी मनःस्थिति धर्म सुनने-समझने योग्य है, तो उन्होंने करुणा-विगलित वाणी में प्रज्ञा जगाने वाले चंद शब्द कहे;

"देख खेमा, इस शरीर को देख, जो सड़ता है, चूता है, गंदा है, बदसूरत है, मृत है! मूढ़-जन ही इसका अभिनंदन करते हैं। चित्त को एकाग्र करके शरीर की इस गंदगी की भावना कर! कायगतासति द्वारा इसके प्रति निर्वेद जगा, अनासक्ति जगा! समझ, जैसा यह शरीर है, वैसा ही तेरा शरीर है! जैसा तेरा शरीर है, वैसा ही यह शरीर है! जैसा बाहर है, वैसा ही भीतर है। जैसा भीतर है, वैसा ही बाहर है। अशुचि का, गंदगी का ढेर है यह। इस नश्वर शरीर के प्रति विमुख हो! उस परम विमुक्त अविनाशी अवस्था के प्रति आमुख हो! सम्यक विपश्यना करके अपने अहं भाव की जड़ें खोद ले और निर्वाणिक अनुभूति करके उपशांत चित्त का जीवन जी!"

इस अमृत वाणी से जब खेमा का चित्त धर्म की ओर आमुख हुआ, प्रफुल्लित हुआ, प्रमुदित हुआ, ऋजु हुआ तो भगवान ने उसे **महानिदान सुत्तंत** की गंभीर देशना दी, जिसे सुनते-सुनते उसे पूर्वजन्मों की भावित की हुई यानी साधी हुई **अनिच्च सञ्‍ञा** यानी अनित्य बोध का स्मरण हो आया। भीतर विपश्यना चल पड़ी। सारे शरीर में अनित्यता का स्वतः अनुभव होने लगा। चित्त निर्मल होने लगा, शांत होने लगा और विशुद्ध धर्मचक्षु जागे। जो कुछ

उत्पन्न होता है, उसका निरोध होता है। इस प्रकार निर्वाणिक निरोध अवस्था का साक्षात्कार हुआ और उसे स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त हुई। स्वयं भगवान सम्यक संबुद्ध द्वारा कल्याणकारी मार्ग का निर्देशन मिला। अनेक जन्मों की संगृहीत अपनी पारमिताओं का प्रतिफल मिला। खेमा धन्य हुई।

वह भावविभोर होकर भगवान के चरणों में गिर पड़ी और आभार प्रकट किया। उसे अब समझ में आया कि काम-मोह में डूबी रहने के कारण इन महाकारुणिक से दूर रह कर वह अपने ही हित-सुख से वंचित रही। भगवान की मंगलमयी अमृतवाणी से अभिसिंचित होकर वह महाराज बिंबिसार के पास गयी और उसके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट की कि किस उपाय कौशल से आप ने मुझे भगवान के पास भेज दिया। गयी थी वन-दर्शन के लिए, पर उस महामुनि ने निर्वाण-दर्शन करा दिया। मेरा बड़ा कल्याण हुआ। उनके मार्गदर्शन से मेरे मन में बड़ा निर्वेद जागा है। मुझे उनके धर्मशासन में प्रव्रजित होने की अनुज्ञा दीजिए।

बिंबिसार अब पहले वाला कामातुर बिंबिसार नहीं रह गया था। अपने अंतःपुर की सर्वोपरि सुंदरी को प्रव्रज्या लेते देख कर, अब वह हर्षित होता है। सहर्ष अनुमति देता है।

खेमा प्रव्रजित होती है। भगवान के चरणों में भिक्षुणी खेमा गहन विपश्यना का आगे का पाठ सीखती है और अपने पूर्व जन्मों के अभ्यास के कारण केवल एक पक्ष में ही अरहंत अवस्था प्राप्त कर लेती है और फिर लगा देती है अपना शेष जीवन लोक-सेवा ही लोक-सेवा में। इस कल्याणकारी विद्या को पाकर कितनी भूली भटकी नारियां भव-भव के बंधनों से विमुक्त हो जाएंगी!

उसकी धर्म सिखाने की कला अत्यंत प्रभावशाली थी, क्योंकि उसकी अपनी प्रज्ञा अत्यंत बलवती थी। भगवान ने उसकी इस योग्यता को देख कर ही घोषित किया;

"एतदग्गं, भिक्खवे, मम साविकानं भिक्खुनीनं महापञ्ञानं यदिदं खेमा।"

इस प्रकार सभी श्राविकाओं में, भिक्षुणियों में उसे महाप्रज्ञावती के अग्रपद से विभूषित किया।

धन्य है धर्म! जिसने उस कामातुरी नारी को कामराग के बंधनों से मुक्त किया और महाप्रज्ञावती बनाया।

सभी प्रज्ञावती बनें! सभी प्रज्ञावान बनें! सभी अपना कल्याण साध लें!

३. वाणी कल्याणी

हमारे सामने एक और चित्र उभर कर आया है जिसमें बिंबिसार के वात्सल्य प्रेम का चारु चरित्र प्रकट होता है। हम देखते हैं कि वह अपने पुत्रों को एक समान पैतृक प्यार देता है। किसी से भेदभाव नहीं करता। यद्यपि राजकुमार अभय तिस्स एक वेश्या से जनमा हुआ पुत्र है, पर वह अन्य राजपुत्रों के समान ही राजमहल में पाला-पोसा जाता है। उसे राजपुत्रों के अनुकूल सारी शिक्षा-दीक्षा मिलती है। रणकौशल की कला में भी उसे पूर्ण निपुणता प्राप्त करायी जाती है।

राजकुमार अभय तिस्स महाराज बिंबिसार के हजार चाहने पर भी लंबे समय तक भगवान बुद्ध के संपर्क में आने के लिए तैयार नहीं हुआ। यद्यपि खेमा की भांति उसके मन में भगवान बुद्ध के प्रति विरोध के भाव नहीं थे। लेकिन लगता है कि उसे अपने पूर्वाचार्य के प्रति इतना लगाव था कि उसकी अनुमति बिना वह भगवान बुद्ध के दर्शन के लिए भी नहीं जाना चाहता था। परंतु संयोग ऐसा हुआ कि स्वयं पूर्वाचार्य ने ही अभय को बुद्ध के पास भेजा। यद्यपि भेजने का मकसद कुछ और ही था।

उन्हीं दिनों देवदत्त ने भगवान बुद्ध के प्रति कुछ एक धर्म-विरोधी हरकतें कीं। भिक्षु-संघ में फूट डालने की असफल कोशिशें की। राजकुमार अजातशत्रु से मिल कर उनकी हत्या करवाने के भी कई असफल प्रयत्न किये। अनेक बार समझाने पर भी वह अपनी बुराई से बाज नहीं आया। तब भगवान ने देवदत्त के प्रति कुछ कठोर शब्दों का प्रयोग किया।

तब तक भगवान बुद्ध की ख्याति देश-प्रदेश में बहुत फैल चुकी थी। अनेक मत-मतांतरों के लोग उनके बताये हुए चित्त विशुद्धि के मार्ग पर चलने लगे थे। संप्रदायवादियों के लिए यह स्थिति असह्य थी। भगवान की प्रसिद्धि-प्रतिष्ठा को नीचे गिराना उनके लिए बहुत आवश्यक था। देवदत्त के प्रति प्रयोग में लाये गये कठोर शब्दों में उन्हें भगवान बुद्ध की प्रतिष्ठा के हनन का एक उपाय सूझ पड़ा। अभय राजकुमार के पूर्वाचार्य ने भी इसका लाभ उठाना चाहा।

उसने अभय राजकुमार को समझाया कि यह बहुत अच्छा अवसर है। तुम्हारी प्रसिद्धि सचमुच बहुत फैलेगी। तुम श्रमण गौतम जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्ति से विवाद कर उसको सरलता से परास्त कर सकते हो। तुम उसके पास

जाओ और उससे यह प्रश्न पूछो, 'क्या आप कभी किसी के प्रति ऐसे कठोर शब्द प्रयोग में लाते हैं जिससे उसका मन पीड़ित हो?' अगर वह उत्तर देगा, 'हां कभी-कभी मैं ऐसे शब्दों का प्रयोग करता हूं।' तो तुम यह कह कर उसे आसानी से नीचा दिखा सकते हो कि अज्ञानी व्यक्तियों में और आप में क्या भेद हुआ? अज्ञानी व्यक्ति भी ऐसे अनुचित शब्दों का प्रयोग करते रहता है और लोगों को दुःखी करते रहता है। इस प्रकार के उत्तर से स्वतः उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल जाएगी।

परंतु यदि श्रमण गौतम बड़ी चालाकी के साथ तुम्हारे प्रश्न का ऐसा उत्तर दे कि, 'मैं कभी ऐसी कठोर वाणी नहीं बोलता जिससे किसी के मन को चोट पहुँचे।' तो तुम कह सकते हो कि, 'आपने देवदत्त के प्रति ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो कि उसके मन को दुःखी करने का कारण बना है।' इस प्रकार श्रमण गौतम झूठा साबित हो जायगा और उसका मान-मर्दन होगा।

वह पहला उत्तर दे अथवा दूसरा, उसकी हार और तुम्हारी जीत निश्चित है। यह प्रश्न ही ऐसा है जिसका उत्तर हां या ना को छोड़ कर और कुछ हो नहीं सकता। इस प्रश्न से सचमुच उसका हाल बेहाल हो जायगा, जैसे किसी के कंठ में कोई लोहे का कांटा फँस जाय, जिसे कि न निगलते बने न उगलते। हां कहे तो मरे, ना कहे तो मरे।

अपने गुरु के दबाव से अभय राजकुमार वेणुवन के कलंदक निवाप विहार में गया। वहां भगवान अपने भिक्षु-संघ के साथ विहार कर रहे थे। यह वही मनोरम राज-उद्यान था जिसे उसके पिता ने भगवान बुद्ध को उनके भिक्षु-संघ के लिए दान दे दिया था। इतने वर्षों में यह स्थान शुद्ध धर्म की कल्याणकारी तरंगों से तरंगित हो उठा था और फिर स्वयं भगवान बुद्ध की उपस्थिति ने समस्त वातावरण को मंगल मैत्री की उर्मियों से आप्लावित कर रखा था। अभय उस वातावरण से प्रभावित हुए बिना न रह सका। उसने भगवान को पंचांग प्रणाम किया और अत्यंत विनीत भाव से हाथ जोड़ कर पास ही बैठ गया। अभय अपने गुरु के दबाव में आ कर ही वाद-विवाद करने गया था। परंतु लगता है वह बिना मन के गया, अतः विवाद न कर सका। उसने देखा सूरज भी ढल रहा है। यह देश और यह काल विवाद की अनुमति नहीं देते। विवाद के बजाय उसने विनम्र भाव से भगवान को अगले दिन अपने निवास-स्थान पर भोजन के लिए आमंत्रित किया। भगवान ने मौन रह कर स्वीकृति दी। अभय ने निर्णय किया कि उसके आचार्य ने जो प्रश्न उठाए हैं,

वह कल अपने घर पर ही प्रस्तुत करेगा। विनम्रतापूर्वक प्रणाम कर वह अपने घर लौट आया।

दूसरे दिन भगवान अभय राजकुमार के घर भिक्षा के लिए पहुँचे। राजकुमार ने उन्हें आदरपूर्वक ऊंचे आसन पर बिठाया। श्रद्धापूर्वक अपने हाथों प्रणीत भोजन परोसा और भगवान द्वारा भोजन पूरा कर लेने के बाद, भोजन पात्र से हाथ खींच लेने पर, वह स्वयं नीचे आसन पर बैठ गया। उसे अपने गुरु का आदेश याद था। अतः उसके गुरु ने जैसे समझाया था वैसे प्रश्न प्रस्तुत किया।

–"भंते भगवन! क्या आप कभी ऐसे कठोर वचन बोलते हैं जिनसे कि सुनने वाले के मन को पीड़ा पहुँचे?"

भगवान ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया,

–"इस प्रश्न का हां या ना में एकाकी यानी एकांशिक नहीं, बल्कि अनेकांशिक उत्तर होगा।"

बेचारा अभयकुमार हतप्रभ हो गया। उसके गुरु ने तो बलपूर्वक कहा था कि 'हां' या 'ना' इन दो को छोड़ कर तीसरा उत्तर नहीं हो सकता और इन दोनों में से कोई भी उत्तर देने पर श्रमण गौतम मात खा जायगा। पर अब तो तीसरा उत्तर सामने आने वाला है। भगवान की ओर से उस प्रश्न का अनेकांशिक उत्तर दिये जाने के पूर्व ही अभय ने अपनी तार्किक हार स्वीकार कर ली और अपने गुरु के द्वारा फेंके गये पासे का उद्घाटन कर दिया। वह बहुत अधीर होकर भगवान के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा।

भगवान ने उत्तर देने के पहले अभय से ही एक प्रतिप्रश्न पूछ लिया। संयोग से उस समय उसकी गोद में उसका दुधमुँहा बच्चा चित्त यानी पीठ के बल पर लेटा हुआ था। उसकी ओर संकेत करते हुए भगवान ने पूछा,

–"राजकुमार! यदि तुम्हारी या धाय की असावधानी से इस नन्हे बच्चे के कंठ में कोई कंकर या काठ का टुकड़ा चला जाय तो उसे बाहर निकालने के लिये तुम क्या करोगे?"

–"भंते भगवन! ऐसा टुकड़ा बच्चे के गले में फँस कर उसके प्राण तक हरण कर सकता है। इसलिये मैं उसे उसके मुँह से निकालने का हर संभव प्रयत्न करूंगा। आवश्यकता हुई तो बायें हाथ से उसका सिर दबोच कर दायें हाथ की अँगुली को टेढ़ी करके वह पत्थर या काठ का टुकड़ा उसके कंठ से

निकाल दूंगा। भले ऐसा करने में बच्चे के मुँह में कहीं खून ही क्यों न आ जाय। भले उसे पीड़ा ही क्यों न हो।"

– "तुम ऐसा क्यों करोगे?"

– "क्योंकि मुझे बच्चे से बेहद प्यार है। उस पर असीम अनुकंपा है, दया है।"

– "ऐसे ही राजकुमार तथागत को प्राणियों पर असीम अनुकंपा होती है। इसलिये वह ऐसी वाणी ही बोलते हैं, जो कि उनके लिए हितकारी होती है।

* जो असत्य है, अहितकर है तथा सुनने वाले के लिए अप्रिय अनचाही भी है, ऐसी वाणी तथागत नहीं बोलते।

* जो सत्य है परंतु अहितकर है तथा सुनने वाले के लिए अप्रिय अनचाही भी है, ऐसी वाणी तथागत नहीं बोलते।

* जो असत्य है और अहितकर है, फिर भले ही सुनने वाले के लिए प्रिय और मनचाही हो, ऐसी वाणी तथागत नहीं बोलते।

* जो सत्य है परंतु अहितकर है, फिर भले ही सुनने वाले के लिए प्रिय और मनचाही हो, ऐसी वाणी तथागत नहीं बोलते।

* जो सत्य है, पर हितकर है और सुनने वाले के लिए प्रिय और मनचाही है, ऐसी वाणी तथागत समयानुसार अवश्य बोलते हैं।

* जो सत्य है और हितकर, फिर सुनने वाले के लिए चाहे अप्रिय और अनचाही ही क्यों न हो, ऐसी वाणी तथागत समयानुसार अवश्य बोलते हैं।"

सम्यक वाणी का ऐसा कल्याणकारी विश्लेषण सुन कर अभय राजकुमार अवाक रह गया। प्रश्न किया था यह मान कर कि भगवान लाजवाब हो जायेंगे, निरुत्तर हो जायेंगे, बगलें झांकने लगेंगे, संकोच में पड़ जायेंगे। उनकी गति सांप-छछूंदर की-सी हो जायगी। उनसे न उगलते बनेगा न निगलते। हां कहेंगे तो सिर नीचा, ना कहेंगे तो सिर नीचा। परंतु हुआ इसके सर्वथा विपरीत। भगवान ने ऐसा धर्ममय उत्तर दिया, जिसे सुन कर अभय राजकुमार का मानस सुखद आश्चर्य से विभोर हो उठा। अपने पिता बिंबिसार से तथा अन्य अनेक स्वजनों से उसने भगवान बुद्ध के बारे में प्रशंसा के अनेक शब्द सुने थे। भगवान के विरोधियों से उनके बारे में हलके शब्द भी सुने थे। परंतु आज जो कुछ प्रत्यक्ष देखा सुना, उसने वास्तविकता उजागर कर दी। भगवान की करुणा-सिंचित प्रज्ञा ने अभय के मन के सारे मैल धो दिये। भगवान के

प्रति असीम श्रद्धा जाग उठी। धर्म का व्यावहारिक पक्ष साफ़-साफ़ समझ में आ गया।

हमेशा सत्य और हितकर वाणी ही बोलनी चाहिए। चाहे वह कोमल हो या कठोर, मनचाही हो या अनचाही। वाणी का यही धर्म है। जो शुद्ध है, सर्वजनहितकारी है, सर्वमंगलकारी है, सर्वकल्याणकारी है। ऐसी कल्याणी वाणी सभी देश-काल में एक जैसी शुभ है, शिव है, मांगलिक है।

विपश्यी साधक जब साधना में पकने लगता है तो इस बात को बखूबी समझने लगता है कि वह जब-जब औरों के अनहित की वाणी बोलता है तो पहले अपने मन को मैला करना पड़ता है, जिससे उसका अपना अहित तो प्रत्यक्ष हो जाता है, तत्काल हो जाता है। ऐसे ही जब-जब औरों के लिए हितकारी वाणी बोलता है तो पहले अपने मन को करुणा से भरना पड़ता है, जिससे उसका अपना हित तो प्रत्यक्ष हो जाता है, तत्काल हो जाता है। ऐसी सम्यक वाणी से औरों के साथ-साथ अपना भी भला साधता है।

गंभीर विपश्यी साधक इस बात को खूब समझने लगता है कि वाणी सदा कल्याणी ही बोले। मंगलकारिणी, कुशलकारिणी, परोपकारिणी ही बोले। धर्ममयी बोले, अधर्ममयी नहीं। सत्यमयी बोले, असत्यमयी नहीं। प्रिय बोले, अप्रिय नहीं। वाणी का यही सदुपयोग है। ऐसी वाणी ही सुभाषित है।

परंतु यदि कोई नासमझ व्यक्ति मृदुल भाषा न समझे, कठोर भाषा ही समझने का आदी हो, और उसके लिए यदा कदा कठोर भाषा का प्रयोग करना पड़े, तो पहले अपने आप को विपश्यना द्वारा भीतर तक जांच कर देख ले। कहीं इस व्यक्ति के प्रति मन में क्रोध या द्वेष तो नहीं जागा है? मन ने कहीं अपना संतुलन तो नहीं खो दिया? समता तो नहीं गँवा दी? यह भी देख ले कि इस व्यक्ति के प्रति मन में प्यार ही है न? करुणा ही है न? यदि ऐसा हो तो ही कठोर शब्दों का प्रयोग करे, यह जानते हुए कि यह व्यक्ति केवल कठोरता की ही भाषा समझने वाला है। परंतु उन कठोर शब्दों में कटुता का नामोनिशान नहीं हो। दुर्भावना लेशमात्र भी न हो। जैसे कोई अनुभवी डॉक्टर फोड़े पर नश्तर चलाता है, तो कठोर हाथों से ही चलाता है, पर मन में कटुता नहीं होती। रोगी के स्वास्थ्य-लाभ की मंगल कामना ही होती है। वैसे ही कठोर शब्द भले हों, परंतु मन का आधार तो कल्याण कामना ही रहे। तो वाणी का सदुपयोग ही है। वाणी की सदुपयोगिता ही कल्याण की कुंजी है।

कल्याणी वाणी अपना और सब का कल्याण साधे!

४. सुपटिवेधन

अभय राजकुमार को भगवान द्वारा दी गयी सम्यक वाणी की धर्ममयी व्याख्या प्रिय लगी और श्रेयस्कर भी। उस समय उसके मन में एक और प्रश्न उठा, जिसे वह भगवान से पूछे बिना नहीं रह सका। उसने अपनी जिज्ञासा भगवान के सामने प्रकट की –

"भंते भगवान! आप के पास अनेक ब्राह्मण, श्रमण और गृहस्थ विद्वान आते हैं और विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछते हैं। क्या आप इस बात का चिंतन-मनन करते रहते हैं कि मुझसे कोई इस प्रकार का प्रश्न पूछेगा तो मैं उसे ऐसा उत्तर दूंगा अथवा बिना पूर्व चिंतन-मनन किये ही, पूछे जाने पर तत्क्षण जो सही और स्पष्ट होता है, वह उत्तर आप निष्प्रयास दे देते हैं?"

इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले भगवान ने फिर उसी से प्रतिप्रश्न किया – "राजकुमार! यह जो तुम्हारा रथ है, क्या तुम इसके अंग-प्रत्यंग को भली प्रकार जानते हो?"

"हां भगवान, मैंने इसका भरपूर प्रयोग किया है। स्वानुभव से मैं इसके अंग-प्रत्यंग को खूब जानता हूं।"

"तो राजकुमार! क्या तुम यह चिंतन-मनन करते रहते हो कि कभी कोई मुझसे इसके किसी अंग के बारे में प्रश्न पूछेगा तो मैं उसे ऐसा-ऐसा उत्तर दूंगा।"

"नहीं भगवान, इसके लिए चिंतन-मनन कैसा! इसे मैं अपने अनुभव से खूब जानता हूं। इसके बारे में मुझे जब कभी जो भी प्रश्न करे, मैं तत्क्षण वही उत्तर दूंगा जो कि सही और स्पष्ट है। अनुभव सिद्ध यथार्थ बात कहने में चिंतन-मनन की क्या आवश्यकता?"

"ठीक ऐसे ही है राजकुमार! जैसे कोई रथी अपने रथ के अंग-प्रत्यंग के बारे में स्वानुभव द्वारा बखूबी जानता है और रथ के किसी अंग के बारे में कोई प्रश्न करे तो झट सही उत्तर दे देता है, उसे इसके लिए पहले से चिंतन-मनन नहीं करना पड़ता, वैसे ही तथागत ने धर्म-धातु को यानी धर्म के गुण-स्वभाव को बींध-बींध कर, विघटन कर-करके, विभाजन कर-करके, अलग-अलग कर-करके भली भांति देख लिया है, स्वानुभव से जान लिया है। अतः

धर्म-संबंधी किसी प्रश्न के पूछे जाने पर, उन्हें चिंतन-मनन करके उत्तर देने की आवश्यकता नहीं होती। उस विषय को खूब अच्छी तरह जानते हैं। अतः तत्क्षण सही स्पष्ट उत्तर दे देते हैं। सच बोलने के लिए चिंतन-मनन की आवश्यकता नहीं होती।"

भगवान के इस विवेचन ने अभय राजकुमार को और अधिक श्रद्धा-विभोर कर दिया। भगवान की महानता और सर्वज्ञता के बारे में उसके मन में रंचमात्र भी संदेह नहीं रह गया। विरोधी पक्ष द्वारा उनके बारे में जो भी मिथ्या दोषारोपण किये गये थे, उन सबका सहज निराकरण हो गया, उन्मूलन हो गया।

अत्यंत श्रद्धा-विनीत हो उसने भगवान को पुनः पंचांग प्रणाम किया और हर्षोद्गार भरे शब्दों में अपनी आस्था प्रकट करते हुए बोला, "अद्भुत है भगवान, आश्चर्यजनक है भगवान, आपने धर्म को इतने स्पष्ट शब्दों में समझाया, जैसे कोई औंधे को सीधा करके दिखा दे, ढके को उघाड़ कर दिखा दे, जैसे कोई अँधेरे में दीपक जला दे, जिससे कि आंख वाले सच्चाई स्वयं देख सकें। मैं धन्य हुआ भगवान! आज से मैं त्रिरत्न की शरण ग्रहण करता हूं। आज से मुझे अपना आजन्म अनन्य उपासक स्वीकार करें।"

सचमुच अभय राजकुमार धन्य हुआ।

***

उपरोक्त वार्तालाप में दो शब्दों का प्रयोग किया गया है– **'धम्मधातु सुप्पटिविद्धो'**। धर्म माने प्रकृति, धातु माने स्वभाव। प्रकृति के स्वभाव का सुपटिवेधन। यानी उसे भली प्रकार वेधन करके, बींध करके जान लेना। जैसे परियत्ति (पर्याप्ति) ज्ञान को कहते हैं; पटिपत्ति (प्रतिपत्ति) इस ज्ञान के मार्ग पर प्रतिपादन करने को कहते है, चल पड़ने को कहते हैं; वैसे ही पटिवेधन (प्रतिवेधन) सच्चाई को बींध कर देखने को कहते हैं। यही विपश्यना है। बिना विपश्यना किये अनुभूति के स्तर पर बींधने का काम कदापि नहीं हो सकता। विपश्यना का अभ्यास शुरू करते ही पटिवेधन का काम शुरू हो जाता है। विपश्यना साधना की फलश्रुति पटिवेधन की अंतिम परिणति है।

धातु छह प्रकार की होती हैं। पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु और आकाश – ये पांच भौतिक धातुएं कहलाती हैं। इन्हें रूपधातु भी कहते हैं। और विज्ञान यानी चित्त एक धातु है, जिसे नामधातु भी कहते हैं। विपश्यना साधना करता हुआ

साधक अपने भीतर होने वाली घनीभूत संवेदनाओं को तटस्थ भाव से देखता है तो स्वत: उनका बींधना आरंभ हो जाता है। बींध-बींध कर उस अवस्था पर पहुँचता है, जहां जान लेता है कि सभी धातुएं तरंगें ही तरंगें हैं, अनित्य स्वभाव वाली, उदय-व्यय स्वभाव वाली हैं और जिन पर अपना रंचमात्र भी अधिकार नहीं। इस नामरूप के प्रपंच को यों देखते हुए, विभाजन करते हुए, साधक तटस्थ भाव से यानी प्रज्ञापूर्ण उपेक्षा भाव से आगे बढ़ता चलता है तो उसका चित्त विकार-विहीन होने लगता है, निर्मल होने लगता है और अंतत: एक अवस्था आती है जब कि विपश्यना के पुष्ट होने पर, संस्कारों के निष्कासन होने पर, नाम और रूप के परे, चित्त और शरीर के परे, इन छहों धातुओं के परे परम-सत्य निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है; जो कि नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, अमृत है। बींध-बींध कर अनुभूतियों द्वारा जान लेता है, नितांत विमुक्त अवस्था तक पहुँच जाता है, तो ही **सुपटिविद्धो** कहलाता है, यानी जिसने पूरी तरह भली भांति प्रतिवेधन कर लिया। अब इस व्यक्ति से धर्म-संबंधी कोई प्रश्न करे तो उसको चिंतन-मनन करने की, तर्क-वितर्क करने की, ऊहापोह करने की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे मेरे सामने यह टेबल है और कोई प्रश्न करे कि यह क्या है? तो 'यह टेबल है' ऐसा उत्तर देने में चिंतन-मनन की, तर्क-वितर्क की, ऊहापोह की कहां आवश्यकता रहती है? ऐसे ही हाथ में यह कलम है। इसे 'कलम है' ऐसा बताने में मुझे कहां कठिनाई होती है? क्या कल्पना करनी पड़ती है? क्या सोचना पड़ता है? जैसे हथेली पर आंवला रखा हो और उसे चारों ओर से घुमा-फिरा कर देख लिया हो, तो 'यह आंवला है' ऐसा कहने में किसी को भी क्या कठिनाई हो सकती है? इसी प्रकार विपश्यना द्वारा प्रकृति को, कुदरत को, उसके नियमों को अपनी प्रज्ञा द्वारा बींध-बींध कर देख लिये जाने के बाद उसके बारे में उत्तर देते हुए कहीं कोई हिचकिचाहट नहीं होती। जहां जान बूझ कर झूठ बोलना हो, छल-कपट द्वारा किसी को धोखा देना हो अथवा किसी अननुभूत काल्पनिक मान्यता को सत्य सिद्ध करना हो तो बहुत सोचना पड़ता है, मन ही मन तर्क-वितर्क करना पड़ता है। जिस सच्चाई को स्वयं अनुभव द्वारा बींध-बींध कर जान लिया हो, उसके लिए इन सब की कहां आवश्यकता होती है?

आओ! धर्म को बींध-बींध कर देखना सीखें और सुपटिवेधन की अंतिम अवस्था को प्राप्त कर अपना कल्याण साध लें।

५. अभय अभय हुआ

अभय राजकुमार शूरवीर है; सैन्य संचालन की विद्या में कौशल प्राप्त है। एक बार मगध साम्राज्य के किसी सरहदी सूबे में बलवा हो जाता है। बगावत का दमन करने के लिए राज्यसेना के साथ राजकुमार अभय को भेजा जाता है। बिंबिसार को अपने पुत्र अभय की योग्यता पर पूरा विश्वास है। अभय इस विश्वास को सही साबित करता हुआ, विद्रोह का दमन करता है और विजयी होकर राजगृह लौटता है। पिता बिंबिसार की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं। इस विजय के उल्लास में राजकुमार को उचित पारितोषिक देना चाहता है। क्या उचित पारितोषिक होगा? अभय अभी युवा है। बिंबिसार को अपनी युवावस्था याद आती है। उन दिनों उसकी कामतृष्णा कितनी उद्दाम थी। कुमार अभय को भी इस युवावस्था में कामराग, रतिरंग की आकांक्षा होगी ही। इसकी पूर्ति के लिए बिंबिसार ने उसे नगर की एक सर्वांगसुंदरी तरुणी नृत्यांगना भेंट में दी। पर केवल इतने से उसे संतोष नहीं हुआ। "मेरा यह पुत्र वेश्या की कोख से जन्मा है। मैं अब भले इसके साथ अन्य राजकुमारों जैसा बर्ताव करूं, परंतु वंश परंपरा के नियमानुसार मेरी मृत्यु के पश्चात किसी भी हालत में यह राजसिंहासन का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः भले अल्पकाल के लिए ही सही, क्यों न मैं इसे राज्यसत्ता का रसास्वादन करवाऊं? इसे राज्य-सत्ता सौंप दूं। मेरा प्यारा पुत्र सात दिनों तक तो राज्यवैभव भोगे!" इस वात्सल्य भाव के प्रबल प्रवाह में उसने अभय को एक सप्ताह के लिए राज्यसिंहासन पर बिठा दिया। सात दिन के लिए राज्य की बागडोर उसके हाथ में पकड़ा दी। विपुल राज्यश्री का अतुल वैभव राजकुमार के अधीन था। उसने उसका भरपूर उपभोग किया। सात दिन राजमहल में रहते हुए रागरंग में बिताए। सात दिनों के कामभोग से वासना की आग बुझी नहीं; और प्रज्वलित हुई। आठवें दिन उस नृत्यांगना को साथ ले कर राजमहल से बाहर आया और काम-क्रीड़ा के लिए नदीतट पर गया।

नदी में स्नान करके दोनों पुनः आमोद-प्रमोद में तल्लीन हो गये। नृत्यांगना की कामोत्तेजक नृत्यकला ने अभय को मोहित कर लिया। तरुणी नर्तकी खुले आकाश के तले तट पर नाचती रही और अभय उसे निर्निमेष देखता रहा। एकाएक नर्तकी के पेट में भयंकर वातशूल उठा। असह्य पीड़ा के मारे वह दुहरी हो उठी। नृत्य की गति शिथिल पड़ गयी। नर्तकी अपना पेट दबाए हुए

वहीं बैठ गयी। मोहविमूढ़ित अभय ने समझा कि यह भी नृत्यकला के अभिनय की कोई भावभंगिमा है। पर देखते ही देखते नर्तकी वहीं ढेर हो गयी। अभय को होश आया, तब तक उसके प्राणपखेरू उड़ चुके थे। निश्चल, निर्जीव लाश धरती पर पड़ी थी।

अभय राजकुमार को बहुत बड़ा धक्का लगा। ऐसी हृष्टपुष्ट देह क्षण भर में काष्ठवत निर्जीव हो गयी। चंद क्षणों पूर्व उद्दाम वासना जगाने वाली नृत्यांगना, अब कैसे निश्चल हो गयी। अभिनय कला में परिपूर्ण पारंगत नृत्यभंगिमा कैसे पथरा गयी? आंखें खुलीं तो खुलीं ही रह गयीं। पलक तक नहीं झपक पाती। सदा मुस्कान लिए हुए मनोहारी होठों पर कराल काल ने दर्दनाक पीड़ा की गहरी छाप अंकित कर दी। अभय के लिए यह दृश्य असह्य हो उठा। उसके मन में इस बात का बहुत बड़ा पश्चात्ताप जागा कि विद्रोहियों के इतने बड़े समूह को परास्त कर जो अपनी सेना के एक-एक सैनिक को सकुशल बचा कर ले आया, वैसा महापराक्रमी राजकुमार अभय अपनी प्राणप्यारी प्रेयसी को काल-कवलित होने से नहीं बचा पाया। प्रियतमा का बिछोह और उसे न बचा पाने का पश्चात्ताप, इस दुहरे आघात ने राजकुमार को शोक-विह्वल कर दिया। उसका दुःख भुलाये नहीं भूलता था। प्रतिक्षण बढ़ता ही जाता था।

कौन उसे इस गहरे दुःख से उबारे? कौन उसके हृदय के घाव भरे? एकाएक राजकुमार को भगवान बुद्ध याद आये। उन महान कारुणिक के मैत्री-चित्त से मिश्रित प्रज्ञाभरी वाणी उसने बार-बार सुनी थी। यद्यपि उनके बताये हुए साधना मार्ग का उसने कभी अनुगमन नहीं किया था, परंतु उनकी वाणी में सद्धर्म का अद्भुत विश्लेषण उसने अनेक बार सुना था। उसी से आश्वस्त-विश्वस्त हुआ था। उसे पूर्ण विश्वास हो गया था कि यह महापुरुष सचमुच शुद्ध हैं, बुद्ध हैं, मुक्त हैं, सर्वज्ञ हैं। इन्होंने सभी दुःखों के मूल कारण को जाना है, उसके निवारण को जाना है। वह स्वयं दुःखमुक्त हुए हैं। औरों को दुःखमुक्ति की साधना सिखाते हैं। ये ऐसे महापुरुष हैं जो मुझे भी इस असह्य दुःख से विमुक्त होने का सही मार्ग दिखा सकते हैं। दुःखमुक्त कर सकते हैं।

व्यथा-विह्वल, आतुर, कातर राजकुमार भगवान तथागत की शरण में पहुँचा। भगवान ने उसकी शोकसंतप्त मनोदशा देखी। उनकी करुणामृत-सिंचित वाणी की वर्षा ने उसके संतापित हृदय को शीतल किया।

भगवान ने समझाया, "राजकुमार! कल्प पर कल्प बीते। इन असंख्य कल्पों के अनगिनत जन्मों में इस जैसी अनगिनत प्रेमिकाओं से वियोग हुआ है तुम्हारा। इन वियोगजन्य विलापों में तुमने जो आंसू बहाए हैं, उनका कोई प्रमाण नहीं। वह सारे आंसू एक जगह एकत्र किये जायँ तो किसी भी महासागर से कम नहीं होंगे। भविष्य के अनगिनत जीवनों में भी इसी प्रकार का प्रिय-वियोग होते रहने वाला है। उससे तुम छूट नहीं गये हो। अतः यह रोना कितनी नासमझी भरा है। आखिर तुम किसके लिए रो रहे हो?"

अभय की समझ में आने लगा। सचमुच मैं किसके लिए रो रहा हूं? आठ दिन पूर्व मैं इस लड़की को जानता तक नहीं था। इसका मुँह तक नहीं देखा था। इसका नाम तक नहीं सुना था। यह रोना तो वस्तुतः अपनी आसक्ति का है। जिसे प्रिय मान लिया, उसी से आसक्त हो गया, उसके प्रति चिपकाव पैदा कर लिया। बिछोह हुआ तो व्याकुल हो गया। जिससे कोई आसक्ति नहीं, उससे बिछोह भले हो, कहां व्याकुलता पैदा होती है? तो व्याकुलता का कारण प्रिय के प्रति सतृष्ण आसक्ति ही तो है। जो अनित्य है, देरसबेर समाप्त होने वाली है, उसके प्रति जागी हुई आसक्ति दुःख की जननी साबित होती है और अनित्य तो सभी हैं। देरसबेर सभी काल के गाल में समा जाते हैं। कोई किसी को बचा नहीं सकता।

भगसवान ने उसकी मनःस्थिति में सुधार आते देखा तो प्रज्ञाभरी वाणी में कहा– "शोक में डूबना नासमझी का काम है। तुम्हें इसके बाहर निकलना चाहिए।" और यह धर्मवाणी उनके मुखारविंद से फूट पड़ी;

एत्थ पस्सथिमं लोकं, चित्तं राजरथूपमं।
यत्थ बाला विसीदन्ति, नत्थि सङ्गो विजानतं॥

– देखो इस लोक को, यह रंग-बिरंगे राजरथ के समान खूबसूरत दिखता है। समय पा कर जैसे चित्रित रथ जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, ऐसे ही लोक भी जीर्ण हो कर नष्ट हो जाता है। नासमझ ही इसे ऐसा होते देख कर व्याकुल होते हैं। समझदार लोग इस पर आसक्त नहीं होते, व्याकुल नहीं होते।

अभय राजकुमार ने कभी विपश्यना साधना का अभ्यास नहीं किया था। अब तक वह भगवान की प्रज्ञापूर्ण वाणी से बौद्धिक स्तर पर प्रभावित हुआ था। धर्म का ऐसा सांगोपांग विश्लेषण करने वाला, उनके जैसा अन्य कोई आचार्य उसे नहीं मिल पाया था। उनके प्रति असीम श्रद्धा जागी थी। उनकी धर्मवाणी से उसे बहुत आश्वासन मिला था। इस दुःख की घड़ी में उनकी शरण

आया था। परंतु उसका पुण्य उदय हुआ। अनेक जन्मों में संग्रह की हुई पारमिताओं का बल जागा। जैसे-जैसे भगवान की वाणी सुनता गया, वैसे-वैसे मन शांत होता गया, समाहित होता गया और अपने भीतर यथाभूत सत्य की अनुभूति करने लगा। स्वतः विपश्यना होने लगी। अपने भीतर संवेदनाओं की प्रत्यक्ष अनुभूति होने लगी। सर्वत्र उदय-व्यय ही उदय-व्यय। सारे शरीर में अनित्य-बोध की धारा प्रवहमान हो उठी और मन इस अनित्य-बोध के आधार पर समता में स्थित होता गया। कुछ समय बाद शरीर और चित्त की अनित्यता का सारा क्षेत्र एकाएक निरुद्ध हो गया और उसके परे की नित्य, शाश्वत, ध्रुव, परम सत्य अवस्था का चंद क्षणों के लिए साक्षात्कार हो गया। अभय मुक्ति के स्रोत में पड़ गया। स्रोतापन्न हो गया। अब उसकी श्रद्धा केवल बुद्धिजन्य नहीं रह गयी थी। वह अनुभवजन्य हो गयी थी।

***

इसके बाद बहुत-सा समय बीतने पर जब महाराज बिंबिसार का शरीरांत हुआ तो उसके मन में गहरा धर्मसंवेग जागा और वह गृह त्याग कर भगवान के पास प्रव्रजित हो, **तालच्छिग्गलूपम सुत्त** की धर्मदेशना सुन कर समीप के वनप्रदेश में जा कर एकांत विपश्यना का अंतर्तप करने लगा। उसको अपनी पुरातन पारमिताओं का संबल मिला और भीतर ही भीतर अनित्य-बोध और अधिक स्पष्ट अनुभव होता गया। सूक्ष्म अवस्थाओं से गुजरता हुआ, नितांत समत्व भाव में स्थित होता हुआ, अपने पूर्व-संचित कर्मों की निर्जरा करने लगा। यों कर्मबंधनों का क्षय होते-होते एक के बाद एक फल समापत्तियां उपलब्ध करता हुआ, अरहंत अवस्था तक जा पहुँचा। उसका भवचक्र समाप्त हो गया। वह नितांत दुःखविमुक्त हुआ।

उसने प्रत्यवेक्षण किया। भगवान के संपर्क में आने के समय से उस परममुक्त अवस्था प्राप्त होने तक की कल्याणकारी अनुभूतियों का पुनरावलोकन किया। गजावलोकन किया। तब यह हर्ष के उद्गार उसके मुँह से स्वतः निकल पड़े;

सुत्वा सुभासितं वाचं, बुद्धस्सादिच्चबन्धुनो।
पच्चब्यधिं हि निपुणं, वालग्गं उसुना यथा॥

– जिस प्रकार कोई कुशल धनुर्धर अपने सूक्ष्म तीर से बाल की नोक का सात बार अचूक वेधन करने में निपुण हो, वैसे ही आदित्यबंधु भगवान की आर्यसत्य को बींधने वाली निपुण वाणी मैंने सुनी।

और भाग्य जागा अभय राजकुमार का। उस धर्मवाणी से प्रेरित हो, स्वयं अपनी बींधने वाली प्रज्ञा जगायी और उसके द्वारा अविद्या के आवरण का भेदन करता हुआ परम निरोध अवस्था का साक्षात्कार कर सका और भवभय से मुक्त हो, सही माने में अभय हो सका।

आओ! हम भी दुगुने उत्साह के साथ धर्म-पथ पर चलते हुए परम अभय अवस्था को प्राप्त करें और अपना कल्याण साध लें!

६. एक और जिज्ञासा

राजकुमार अभय अब भगवान बुद्ध के प्रति परम श्रद्धालु हो गया। अब बार-बार उनके दर्शनार्थ जाता और धर्म-श्रवण करता। कभी-कभी किसी प्रश्न के समाधान के लिए भी जाता।

हम देखते हैं कि वह भगवान से मिलने राजगृह के गिज्झकूट पर्वत पर आया है, जहां भगवान विहार कर रहे हैं। आज वह एक विशेष जिज्ञासा लेकर आया है।

वैसे तो भारत की यह सदा की विशेषता रही है, परंतु लगता है उन दिनों लोगों को परस्पर विरोधी विचारों के प्रचार की विशेष छूट थी। ऐसे आचार्य थे और अच्छी खासी संख्या में उनके अनुयायी भी थे जो कि कर्म-सिद्धांतों को नहीं मानते थे। न किसी अच्छे कर्म का अच्छा फल, न बुरे का बुरा। न ही कारण और परिणाम के सिद्धांत को मानते थे। किसी भी परिणाम का कोई कारण नहीं, कोई हेतु नहीं। संसार में सब कुछ यों ही अकस्मात अकारण होते रहता है। ऐसी मान्यता का उपदेशक उन दिनों का एक प्रसिद्ध धर्माचार्य था – पूरण कस्सप। उसकी मान्यता थी कि यदि कोई व्यक्ति सम्यक दर्शी हो जाता है, सम्यक ज्ञानी हो जाता है तो इसका कोई हेतु यानी कारण नहीं होता। बिना ही हेतु कोई व्यक्ति सम्यक दर्शी, सम्यक ज्ञानी हो जाता है। इसी प्रकार उसकी मान्यता थी कि यदि कोई व्यक्ति अदर्शी, अज्ञानी रह जाता है यानी सच्चाई का वह न सम्यक दर्शन कर पाता है, न सम्यक ज्ञान प्राप्त कर पाता है तो इसके पीछे भी कोई हेतु, कोई कारण नहीं होता। बिना ही कारण कोई व्यक्ति सम्यक दर्शी, सम्यक ज्ञानी हो जाता है और बिना ही कारण अदर्शी, अज्ञानी रह जाता है।

आज राजकुमार अभय इसी मान्यता पर भगवान के विचार जानने आया है। भगवान उसे समझाते हैं कि इस लोकीय जगत में जो उत्पाद होता है उसका प्रत्यय यानी कारण यानी हेतु होता ही है। सब परिणामों के मूल में कोई न कोई हेतु समाया है। कोई व्यक्ति यथाभूत सच्चाई नहीं देख पाता, नहीं जान पाता यानी अदर्शी, अज्ञानी रह जाता है, सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान से वंचित रह जाता है तो वह बिना हेतु नहीं। इसके पांच हेतु होते हैं;–

१. मन में कामनाओं के ज्वार जागते हैं।

२. मन में द्वेष के उबाल उठते हैं।

३. शारीरिक आलस्य और मानसिक प्रमाद छा जाते हैं।

४. शारीरिक बेचैनियां और मानसिक संताप छा जाते हैं।

५. मन संशय-शंकाओं से उद्विग्न हो जाता है।

इन पांचों में से कोई भी अवस्था सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान में बाधक बन जाती है। अतः ये हेतु हैं जिनकी वजह से कोई व्यक्ति सच्चाई के प्रति अदर्शी, अज्ञानी रह जाता है। इन पांचों के स्वभाव को जाने बिना और उन्हें दूर किये बिना सम्यक दर्शन कहां, सम्यक ज्ञान कहां? अभय इस उत्तर से बहुत संतुष्ट, प्रसन्न हुआ। उसने पूछा, इन पांचों को क्या कहते हैं, भगवान? भगवान ने कहा, "नीवरण"।

वस्तुतः नीवरण ही हैं, सच्चाई पर पड़े आवरण ही हैं जो सच्चाई को यथाभूत देखने नहीं देते।

"सचमुच भगवान! ये नीवरण ही हैं। इनमें से एक नीवरण भी उत्पन्न हो तो बाधक बन जाय। पांचों नीवरण उत्पन्न हो जायं तो बाधा का कहना ही क्या?" – राजकुमार ने बुद्धि से समझ कर ऐसा कहा।

विपश्यी साधक इसे स्वानुभूति द्वारा समझता है। इन पांचों को साधना के क्षेत्र में अपना दुश्मन मानता है, जो प्रगति में बाधक बन जाते हैं। जैसे किसी पात्र में पड़ा पानी रंगीन हो या गँदला हो या बहुत हिलता-डुलता हो तो उसमें अपना प्रतिबिंब साफ़ कैसे दीखेगा? जैसे आंखों पर रंगीन चश्मा चढ़ा हो या आंखों में धूल पड़ी हो या आंखों के सामने अँधेरा हो या गर्द-गुब्बार हो तो सच्चाई यथाभूत कैसे दीख पायेगी? विपश्यी साधक खूब जानता है कि ये नीवरण जितने-जितने नष्ट होते हैं, चित्त उतना-उतना समाहित होता है, शांत होता है, स्वच्छ होता है क्योंकि आवरणहीन होता है। तभी यथाभूत सच्चाई देख पाता है। सच ही कहा है: **समाहितो यथाभूतं पजानाति** – चित्त सम्यक रूप से समाहित होता है तो सच्चाई को प्रज्ञापूर्वक यथाभूत जान लेता है।

इसी प्रकार भगवान ने समझाया कि सम्यक दर्शी और सम्यक ज्ञानी भी बिना हेतु नहीं हो सकता। इसके भी हेतु हैं, कारण हैं। सात हेतु हैं, जिनके होने से कोई भी व्यक्ति सम्यक दर्शी, सम्यक ज्ञानी बन सकता है। ये हेतु हैं;–

१. **सति –** (स्मृति) यानी सजगता। अपने भीतर नाम-रूप के उदय-व्यय को देखते-देखते, भ्रम-भ्रांतियों से दूर होते-होते, राग-द्वेष से दूर होते-होते

निरोध अवस्था को प्राप्त कर लेता है; यानी सकल इंद्रिय अनुभूति का परित्याग कर, उनसे परे परम सत्य निर्वाण को देख लेता है। यों सति के अभ्यास का संवर्धन करते हुए यथाभूत सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान का लाभी हो जाता है। ठीक इसी प्रकार –

२. **विरिय –** (वीर्य) यानी परिश्रम, पुरुषार्थ के अभ्यास का संवर्धन करते हुए,

३. **धम्मविचय –** (धर्म विचयन) यानी सच्चाई के टुकड़े-टुकड़े करते हुए, उसके स्वभाव को जानने के अभ्यास का संवर्धन करते हुए,

४. **पीति –** (प्रीति) यानी आनंद की अनुभूति के अभ्यास का संवर्धन करते हुए,

५. **पस्सद्धि –** (प्रश्रब्धि) यानी प्रशांत नीरवता के अभ्यास का संवर्धन करते हुए,

६. **समाधि –** यानी कुशल चित्त की एकाग्रता का संवर्धन करते हुए,

७. **उपेक्खा –** (उपेक्षा) यानी सारे इंद्रिय जगत के अनित्य स्वभाव को स्वानुभूति से जानते हुए, समता के अभ्यास का संवर्धन करते हुए,

– यथाभूत सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान का लाभी हो जाता है।

ये सात हेतु हैं, कारण हैं, जिनकी वजह से कोई व्यक्ति सम्यक दर्शी, सम्यक ज्ञानी बन सकता है, बिना कारण नहीं।

"क्या नाम है भगवान! इन सातों का?"

"राजकुमार! इन्हें बोध्यङ्ग कहते हैं।"

"सचमुच बोध्यङ्ग ही तो हैं भगवान! बोधि के अंग ही तो हैं भगवान! इनमें से किसी एक को भी परिपुष्ट कर लेने से यथाभूत सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान का लाभी हो सकता है। सातों के परिपुष्ट कर लेने पर तो कहना ही क्या!"

अभय राजकुमार ने इसे बुद्धि के स्तर पर समझा परंतु प्रत्येक साधक इस बात को अनुभवों से जानता है कि इन सातों के अभ्यास द्वारा ही वह शनैः शनैः बंधन से मुक्ति की ओर, नश्वर से अमृत की ओर बढ़ता जाता है और सच्चाई का यथाभूत सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान उपलब्ध करता जाता है।

राजकुमार अभय भगवान के उत्तर से अत्यंत संतुष्ट, प्रसन्न हुआ। भगवान से मिलने के लिए उसे गिज्झकूट पर्वत की चढ़ाई चढ़नी पड़ी थी जो कि श्रमसाध्य थी। शरीर और चित्त में थकान पैदा हुई थी। परंतु अब कहता है कि भगवान से मिल कर, उनके धर्म-विश्लेषण को सुन कर सारी थकान दूर हो गयी। मन इस स्पष्ट सही ज्ञान के अमृत सिंचन से शीतल शांत हो गया। अभय धन्य हुआ।

आओ! हम भी पांचों नीवरणों को समझें और उन्हें दूर करने के प्रयत्न में लग जायँ। सातों बोध्यङ्गों को समझें और उनको भावित करने के प्रयत्न में लग जायँ। इसी में हमारा कल्याण निहित है।

७. देख देह की गंदगी

भारत की पुरातन जनभाषा का एक विपुल साहित्य लगभग तेईस सौ वर्ष पूर्व, पड़ोसी देशों में गया और वहां गुरु-शिष्य परंपरा द्वारा लिखित और मौखिक रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रहा; यद्यपि भारत में वह सर्वथा विलुप्त हो गया। उस साहित्य में बिंबिसार के पुत्र अभय राजकुमार के जीवनवृत्त के साथ-साथ अभयमाता का चरित्र भी उभर कर आता है। उसका युवावस्था का जीवन जितना गर्हित था, कृष्णपक्षीय था, अध्यात्म की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर वृद्धावस्था का जीवन उतना ही शुक्ल बन गया, वंदनीय बन गया और साधक-साधिकाओं के लिए प्रेरणा का अजस्र स्रोत बन गया।

जैसे आज के युग में देश-देश में कुमारियों की सौंदर्य प्रतियोगिताएं होती हैं और सर्वश्रेष्ठ सुंदरी को सौंदर्य सम्राज्ञी (Beauty Queen) के पद से अलंकृत किया जाता है, वैसे ही २,६०० वर्ष पूर्व के भारत में भी जनपद-जनपद में ऐसी प्रतियोगिताएं होती थीं। जो युवती केवल रूप-सौंदर्य में ही नहीं, बल्कि नृत्य, वाद्य, संगीत आदि ललित कलाओं में भी सर्वश्रेष्ठ चुनी जाती थी, उसे जनपदकल्याणी की उपाधि से अलंकृत किया जाता था। उस साहित्य में केवल एक प्रसंग ऐसा मिलता है, जिसमें कोई जनपदकल्याणी किसी राजकुमार की विवाहिता पत्नी बनने के लिए वाग्दत्त हुई, यद्यपि विवाह उसका भी नहीं हो पाया क्योंकि राजकुमार गृहत्यागी भिक्षु बन गया। अन्यथा उन दिनों की प्रचलित सामाजिक रीति के अनुसार वह कुलवधू बन कर किसी एक परिवार-विशेष की गृहशोभिनी बनने के बजाय, नगरवधू बन कर नगरशोभिनी बन जाती थी और अपनी रूपसंपदा तथा ललितकला का विक्रय-व्यवसाय कर जीवन-यापन करती थी।

ऐसी एक से अधिक जनपदकल्याणियों का वर्णन पुरातन साहित्य में उपलब्ध है। अवंती जनपद की राजधानी उज्जैन नगरी की ऐसी ही एक नगर-शोभिनी थी पद्मावती, जिसके रूप-सौंदर्य और कला-माधुर्य की ख्याति दूर-दूर देशों तक फैल गयी थी।

उन दिनों मगध-नरेश बिंबिसार युवावस्था में से गुजर रहा था और उद्दाम कामवासना का विवश गुलाम था। पद्मावती के रूप-सौंदर्य की गुण-ख्याति सुनी तो उसे पाने के लिए अधीर हो उठा। उतनी दूर की गुप्त यात्रा करनी कठिन

थी। परंतु ऐसे कामों में उसका एक निपुण सहयोगी था राजपुरोहित, जिसकी सहायता से वह उज्जैन जा पहुँचा। बिंबिसार ने एक रात पद्मावती के साथ बितायी, जिससे उसे गर्भ रह गया। लौटते हुए राजा बिंबिसार ने पद्मावती को अपना परिचय दिया और कहा कि यदि गर्भ रहे और पुत्र प्राप्त हो तो शैशवकाल का लालन-पालन पूरा कर उसे राजगृह भेज दे। राजचिह्न के रूप में बिंबिसार ने उसे अपनी अँगुली की राज्य-नामांकित मुद्रिका दी।

दस मास पश्चात अभय का जन्म हुआ। पद्मावती ने उसे सात वर्ष तक पाल कर बिंबिसार के आदेशानुसार राजगृह भेज दिया, जहां कि बिंबिसार ने अत्यंत स्नेहपूर्वक उसे राजसी सुख-सुविधाओं में पाला।

अभयमाता ने अभयपिता की इच्छा का आदर करते हुए ही नहीं, बल्कि पुत्र के उज्वल भविष्य की संभावनाओं को भी ध्यान में रखते हुए उसे राजगृह के राजमहल में भेज दिया था। पर मां तो मां थी। अतः यह अनुमान करना समीचीन है कि वह किन्हीं साधनों से अपने पुत्र के कुशल-क्षेम और सुख-सुविधाओं की सूचनाएं मँगाती रही होगी। ऐसी सूचना उसके पास पहुँचती रही होगी कि उसका राजकुमारोचित लालन-पालन हो रहा है। अब वह कुमार अवस्था से वयस्क हो गया है। युवा हो गया है। सैन्य-संचालन विद्या सीख रहा है। राजकुमारोचित अन्य सारी विद्याओं में भी निपुण हो गया है। पिता को उसकी योग्यता पर बड़ा गर्व है। अब उसे प्रत्यंत प्रदेश में उठी एक बगावत का दमन करने के लिए भेज दिया गया है। वहां से वह विजयी और यशस्वी होकर लौटा है। महाराज ने प्रसन्न हो कर सात दिन के लिए उसे शासन की बागडोर सौंप दी है। उसका लाडला मगध के विशाल साम्राज्य का शासक बन गया है, भले एक सप्ताह के लिए ही क्यों न हो। यह सब सुन कर उसका हृदय गद्गद हुए जा रहा है। वह हवा में उड़ कर राजगृह पहुँच जाना चाहती है और अपने पुत्र को अंक में भर लेना चाहती है। परंतु फिर होश आता है कि लोगों को पता चलेगा कि वह गणिकापुत्र है तो उसकी प्रतिष्ठा को आंच आयगी। अतः दूर रह कर ही उसकी मंगल कामनाएं करती है। परंतु एकाएक यह कैसा वज्रपात हुआ? सूचना आयी कि राजकुमार अजातशत्रु ने महाराज बिंबिसार को बंदी बना लिया और स्वयं राजगद्दी हथिया ली। कुछ दिनों के बाद महाराज की हत्या कर दी गयी। अब यह सूचना आयी कि अभय ने दाढ़ी-मूंछ और सिर के बाल मुँड़ा कर गृह त्याग दिया। विरक्त हो कर भगवान बुद्ध के संघ में सम्मिलित हो गया।

व्याकुल अभयमाता अब अपने पुत्र से मिलने के लिए अधीर हो उठी और लंबी यात्रा पूरी करके उज्जैन नगरी से मगध की राजधानी राजगृह चली आयी। भिक्षु अभय ने उसे सांत्वना दी, धीरज बँधाया और धर्म की महानता समझायी। उसे भगवान की शरण में ले गया, जिससे उसमें धर्मसंवेग जागा। वह प्रव्रजित हुई और सिर मुँड़ा कर भिक्षुणी-संघ में सम्मिलित हो गयी। वहां उसे विपश्यना सिखायी गयी।

वह विपश्यना का अभ्यास करने लगी। परंतु जीवन भर संचित किये हुए काम-भोग के संस्कार उसके लिए बाधक बन रहे थे। शरीर पर अनित्यबोध की संवेदना जगा कर विकारविमुक्त होना तो दूर की बात, चंद क्षणों के लिए चित्त एकाग्र करना भी असंभव हो रहा था। तब तक भिक्षु अभय अरहंत हो चुका था। उसने अपनी जन्मदायिनी माता की प्रगति में बाधा देखी तो उससे मिला और उद्‍बोधन-भरे शब्दों द्वारा उसमें फिर धर्मसंवेग ही नहीं जगाया, बल्कि साधना के लिए एक नया कर्मस्थान दिया, नई विधा सिखायी। वह यह जान गया था कि माता का अधिकांश जीवन अपने भौतिक शरीर को सजा-सँवार कर लोगों में कामवासना जगाने के गर्हित कार्य में ही बीता है। इस कारण शरीर के प्रति उसकी गहरी आसक्ति है। अतः अंतर्मुखी होकर उसके प्रति संवेदनाओं के स्तर पर अनित्यबोध नहीं जगा पा रही है। उसे पहले अपने शरीर के प्रति जुगुप्सा का भाव जगाना आवश्यक है। एतदर्थ काया की अशुचि यानी गंदगी के प्रति **मनसिकार** यानी चिंतन करने का प्रारंभिक सबक सिखाया।

पुत्र-आचार्य की धर्मवाणी सुन कर माता-शिष्या अत्यंत प्रभावित हुई। जैसे सिखाया गया, वैसे चिंतन शुरू किया। सचमुच चमड़ी से ढकी इस काया के भीतर हड्डी, मांस, मज्जा, खून, पीब, थूक, कफ, मल-मूत्र आदि गंदगी ही गंदगी है। इसके अतिरिक्त और है ही क्या? यों चिंतन-मनन करते-करते काया-संबंधी आसक्ति टूटने लगी; भले बुद्धि के स्तर पर ही टूटने लगी। इससे अपने आप शारीरिक संवेदनाजन्य अनुभूतियों के जाग पड़ने पर अनित्यबोध जागा। धीरे-धीरे अभ्यास करते-करते अनित्यधर्मा काया और चित्त के समस्त प्रपंच के प्रति उसका निर्वेद पुष्ट हुआ। राग और द्वेष के जन्म-जन्मांतरों के बंधन टूटे। विपश्यना के अभ्यास से मुक्ति के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हुई भिक्षुणी अनित्य, नश्वर, भंगुर को त्याग कर नित्य, शाश्वत, ध्रुव की ओर बढ़ती गयी और शीघ्र ही स्रोतापन्न आदि पड़ावों को पार करती हुई नितांत वीतराग अरहंत अवस्था को प्राप्त कर कृतकृत्य हुई, धन्य हुई।

भवबंधनों से सर्वथा विमुक्ति प्राप्त कर अन्य अनेक अरहंत संतों की भांति उसके मुँह से भी हर्ष के उद्गार निकले। सर्वप्रथम अपने पुत्र आचार्य अभय के प्रति असीम कृतज्ञता के भाव प्रकट हुए। उससे साधना-संबंधी जो आदेश मिले थे, वही बोल दोहराए –

उद्धं पादतला अम्म, अधो वे केसमत्थका।
पच्चवेक्खस्सुमं कायं, असुचिं पूतिगन्धिकं॥

– हे माता, पैरों के तलवे से ऊपर और मस्तक के बालों के नीचे इस अशुचि और दुर्गंध से भरी काया का प्रत्यवेक्षण कर।

उद्‌बोधन के इन शब्दों को दोहरा कर उसने अपने उदान के ये शब्द प्रकट किये –

एवं विहरमानाय, सब्बो रागो समूहतो।
परिळाहो समुच्छिन्नो, सीतिभूताम्हि निब्बुता ति॥

– उसके आदेशों का अनुसरण कर मैंने अपना संपूर्ण राग जड़ से उखाड़ फेंका। काम-वासना की सारी जलन नष्ट कर अब मैं शीतलीभूत हूं, शांत हूं, निर्वाण-प्राप्त हूं।

अभयमाता धन्य हुई। कहां रूप-सौंदर्य के कामपंक में आकंठ डूबी शरीर व्यवसायिनी और कहां भव-भव के बंधन से मुक्त वीतराग की परम अवस्था को प्राप्त अरहंत साध्वी। सचमुच विपश्यना साधना इस बात को नहीं देखती कि किसे तारूं, किसे नहीं। जो भी विपश्यना में तपे, सो ही तरे। राजा हो या रंक, पुरुष हो या नारी, गणिका हो या गृहिणी। धर्म की गंगा कोई भेदभाव नहीं करती।

दान का फल

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के चार महीने बाद ५०० बुजुर्ग संतों ने जो कि उस समय की घटनाओं के साक्षी थे, भगवान की ही नहीं, बल्कि अनेक अरहंत संतों की वाणी भी संकलित की जो कि दो-तीन सौ वर्ष बाद अनेक पड़ोसी देशों में गयी। भारत में सर्वथा लुप्त हो जाने पर भी उन देशों में अपने मौलिक रूप में सँभाल कर रखी गयी। उस तिपिटक साहित्य में अभयमाता के

उपर्युक्त दोनों उद्गार संगृहीत हैं। साथ ही एक अन्य स्थान पर कुछ अन्य उद्गार भी मिलते हैं।

अरहंत अवस्था प्राप्त कर जब अभयमाता को अनेक सिद्धियां प्राप्त हुईं तो उनमें से एक **'पुब्बेनिवासानुस्सति'** अभिज्ञान की सिद्धि मिली। इससे वह अनेक कल्पों पूर्व तक का जाति-स्मरण कर सकी। उसने देखा कि अनेक कल्पों पूर्व तिस्स नामक बुद्ध हुए थे। एक दिन वह नगर में भिक्षाटन के लिए निकले तो उसने अत्यंत श्रद्धापूर्वक एक करछुल भात उनके भिक्षापात्र में डाला था। उस पुण्य कर्म का ही ऐसा कल्याणकारी फल आया कि भव-भव भ्रमण करते हुए अब उसे विपश्यना की यह अनमोल संपदा प्राप्त हुई। अपने किसी पूर्व जीवन में उसने कोई दुष्कर्म भी किया था, जिसके कारण गणिका का गर्हित जीवन जीना पड़ा। परंतु उस दान के महान पुण्य कर्म के फलस्वरूप यह अवस्था आयी कि उसे अभय जैसा पुत्र प्राप्त हुआ जो कि स्वयं अरहंत अवस्था प्राप्त कर उसकी मुक्ति में भी सहायक हो गया। इसी सच्चाई को प्रकट करता हुआ उसका एक उद्गार उपर्युक्त पुरातन साहित्य-संग्रह में संकलित है;

सुदिन्नं मे दानवरं, सुयिट्ठा यागसम्पदा।
कटच्छुभिक्खं दत्वान, पत्ताहं अचलं पदं॥

– मैंने अच्छी प्रकार श्रद्धाविनीत होकर शुभ दान दिया और इस सुयज्ञ की संपदा अर्जित की। वह जो करछुल भर भिक्षा दी, उसी पुण्य के कारण मुझे आज यह नित्य, ध्रुव, अचल अमृतपद प्राप्त हुआ।

सचमुच दुष्कर्म का दुष्फल और सत्कर्म का सत्फल देर-सबेर प्राप्त होता ही है।

अतः आओ! दुष्कर्मों से बचें और सत्कर्मों में लगें। इसी में हमारा कल्याण निहित है।

८. अभया भव-भय से छुटी

इसी संदर्भ में एक और चित्र उभर कर आया है। अभयमाता की एक सहायिका, नाम अभया। लगता है उनका स्नेह-संबंध अत्यंत घनिष्ठ रहा होगा, इसीलिए वह भी अभयमाता के साथ उज्जैनी से राजगृह चली आयी और प्रव्रजित हो भगवान के भिक्षुणी-संघ में सम्मिलित हो गयी।

हम नहीं जानते कि यह अभया कोई सद्गृहस्थ महिला थी अथवा अभयमाता के शरीर-व्यवसाय में साथ देने वाली कोई गणिका। परंतु विपश्यना साधना का अभ्यास करने के लिए उसे राजगृह के शीतवन नामक श्मशान में जा कर शवदर्शन करने का आदेश दिया गया। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह भी अपनी सहेली की तरह काम-वासना की ग्रंथियों से पीड़ित रही होगी। उसे भी काया के प्रति आसक्ति रही होगी। संगत का असर होना स्वाभाविक है। ऐसे लोगों के लिए काया के प्रति गर्हा और निर्वेद का भाव जगाने के लिए श्मशान में मुर्दों के शरीर का निरीक्षण करना लाभप्रद होता है। शव-दर्शन के आधार पर शरीर का दर्शन करने के बाद अनित्य-बोधिनी विपश्यना का अभ्यास सरल हो जाता है।

श्मशान में उसने एक फूले हुए मृत शरीर को देखा तो उसके मन में गहरा संवेग जागा। इतने में उसे भगवान की कल्याणी वाणी सुन पड़ी। उसे लगा जैसे भगवान उसके सामने उपस्थित हैं और समझा रहे हैं –

अभये भिदुरो कायो, यत्थ सत्ता पुथुज्जना।

– अभये, देख यह काया कितनी भंगुर है! इसमें मूढ़जन आसक्त रहते हैं।

भगवान की वाणी से उसमें धर्म-बल जागा और विपश्यना में दृढ़तापूर्वक लग गयी और यह दृढ़ संकल्प किया कि –

निक्खिपिस्सामिमं देहं, सम्पजाना सतीमती।

– मैं स्मृति और संप्रज्ञान के साथ कायोत्सर्ग करूंगी।

अपने अनवरत पुरुषार्थ द्वारा वह योगिनी अचिरकाल में अरहंत अवस्था को प्राप्त हुई। मुक्ति के हर्ष में उदान वचन प्रकट हुए, जो कि उस पुरातन साहित्य में उपलब्ध है।

उसने पहले उपर्युक्त गाथा गायी, तदनंतर अपनी विजय का उद्घोष करते हुए कहा –

बहूहि दुक्खधम्मेहि, अप्पमादरताय मे।
तण्हक्खयो अनुप्पत्तो, कतं बुद्धस्स सासनं॥

– बहुत दुःखों में से गुजरती हुई स्मृति संप्रजन्य द्वारा अप्रमत्त रह कर मैंने अंततः तृष्णाक्षय की निर्वाणिक अवस्था प्राप्त कर ली। इस प्रकार मैंने भगवान का शासन यानी उनकी शिक्षा पूरी की।

स्थविरा अभया ने भी अन्य विमुक्त स्थविरियों की भांति पूर्व जन्मों की स्मृति-सिद्धि प्राप्त कर अपने विगत जन्म देखे और कहा कि इस भद्र कल्प के इकतीस कल्पों पूर्व अरुणा नगरी में मैं अरुण नरेश की राजमहिषी थी। उस समय लोक में भगवान सिखि सम्यक संबुद्ध उत्पन्न हुए थे। मैंने एक दिन सात उत्पल पुष्पों से उनकी पादवंदना की। इकतीस कल्पों तक देव-मनुष्य भवों में संसरण करते रहने के पश्चात उस पुण्यफल के प्रताप से मुझे अब इन भगवान गौतम बुद्ध से **सतिपट्ठान** विपश्यना मिली। बोध्यंग जगाने की साधना मिली और अपने पराक्रम पुरुषार्थ द्वारा मैंने समस्त आस्रवों का क्षय कर लिया। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं –

नत्थि दानि पुनब्भवो।

अभया भवबंधनमुक्त हुई। कृतकृत्य हुई। नगरशोभिनी पद्मावती की संगति से भले उसने कभी गलत जीवन बिताया हो पर उसी की संगति से और अपने पूर्व पुण्य की वजह से उसे शुद्ध धर्म की मुक्तिदायिनी विपश्यना विद्या मिली, जिससे कि उसने नितांत दुःखविमुक्त अवस्था, वीतराग अवस्था प्राप्त कर ली और मानवी जीवन सफल बना लिया।

ऐसी मांगलिक सफलता सब को मिले!

९. राजकुमार सीलवा

बिंबिसार का एक और पुत्र था सीलवा। बिंबिसार के कई रानियां थीं कुछ वरिष्ठ, अनेक कनिष्ठ। कहा नहीं जा सकता कि वह कौन-सी रानी का पुत्र था। राज्यसत्ता-लोलुप अजातशत्रु ने उसे मरवाने के अनेक प्रयत्न किये। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह अवश्य एक महत्त्वपूर्ण राजकुमार रहा होगा। राजगद्दी पर उसका अधिकार औरों की अपेक्षा अधिक दृढ़ रहा होगा। तभी अजातशत्रु उसे अपना प्रबल प्रतिद्वंद्वी मानकर मरवाने के अनेक षड्यंत्र करता रहा। परंतु अपनी पुण्यपारमी के कारण सीलवा मृत्यु से बचता रहा।

एक बार किसी षड्यंत्र द्वारा उसे एक उन्मत्त चंड हाथी की पीठ पर बैठा दिया गया। इस उद्देश्य से कि हाथी क्रुद्ध हो कर उसे अपनी पीठ से नीचे गिरा दे और कुचल कर मार दे। सीलवा भगवान के प्रति अत्यंत श्रद्धालु था। बार-बार उनसे धर्म सीखने के लिए वेणुवन जाया करता था। भगवान जानते थे कि यह व्यक्ति इसी जीवन में अरहंत बनने की पूर्ण क्षमता रखता है। उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि उसे छलपूर्वक प्रमत्त हाथी की पीठ पर बैठा दिया गया है, तो महामोग्गल्लान को उसके प्राण बचाने के लिए भेजा। महामोग्गल्लान ने अपने मैत्रीबल से उन्मत्त हाथी को शांत किया और उसे राजकुमार सीलवा सहित भगवान के पास ले आये। शांत-चित्त हाथी भगवान के सामने घुटने टेक कर बैठ गया और सीलवा हाथी से उतर कर भगवान के चरणों में गिर पड़ा।

सीलवा सचमुच अत्यंत शीलवान था। भगवान ने उसे यथोचित उपदेश दे कर विपश्यना विद्या सिखायी, जिसका अभ्यास कर चंद दिनों में ही वह स्रोतापन्न हो गया। तदनंतर अत्यंत श्रद्धावान होकर वह प्रव्रजित हुआ और मागधी राज्य-षड्यंत्रों से दूर कोशल देश के एक अरण्य में एकांत साधना करने के लिए चला गया। समय पा कर उसे अरहंत अवस्था प्राप्त हुई।

जब अजातशत्रु ने सुना कि सीलवा अमुक अरण्य में प्रव्रजित हो कर रहता है तो उसे लगा कि मृत्युघात से बचने के लिए वह स्वांग रच रहा है। अनुकूल अवसर आने पर मगध लौट कर राजगद्दी पर अपने अधिकार का दावा अवश्य करेगा। अतः इस कांटे को अभी दूर कर देना चाहिए। सीलवा पराए देश में था। वहां अपने सैनिक भेज कर उसे बंदी नहीं बनाया जा सकता था। अतः कुछ एक पेशेवर हत्यारों को उसे मारने के लिए भेजा। जब ये लोग

इस बुरे उद्देश्य से उसके पास गये तो अरहंत सीलवा ने अत्यंत मैत्री चित्त से उन्हें समीप बैठाया और धर्मदेशना दी। मैत्री की तरंगों से प्रभावित होकर वे धर्म सुनने लगे। शीलवान सीलवा ने शील की महिमा के गीत गाये जो कि सौभाग्य से हमारे लिए आज भी सुरक्षित हैं। ये धर्मगीत पच्चीस सौ वर्षों से धर्म-पथिकों को, मुक्ति-मार्गियों को असीम प्रेरणा देते रहे हैं। आज भी वे उतने ही प्रेरणादायक हैं, उतने ही तरोताजा हैं। आओ, इस सनातन धर्मवाणी से प्रेरणा पाएं, इससे ताजगी हासिल करें!

सीलवा द्वारा गाए हुए शील की महिमा के बोल इस प्रकार हैं;–

१. यहां इस लोक में मुक्ति के मार्ग पर चलने वालों को चारित और वारित शीलों में सुरक्षित होना चाहिए। सेवित शील से सभी मानवी, दिव्य और निर्वाणिक संपत्तियां उपलब्ध होती हैं।

२. जिसे इस लोक में यश, प्रशंसा और धनलाभ तथा परलोक में आनंदलाभ चाहिए, वह समझदार मेधावी व्यक्ति अपने शील की रक्षा करे।

३. कायिक, वाचिक दुष्कर्मों से विरत रहने वाला शीलवान व्यक्ति धर्माचरण के कारण अनेकों को मित्र बना लेता है। इसके विपरीत कायिक, वाचिक दुष्कर्मों में रत दुश्शील व्यक्ति पापाचरण के कारण अपने मित्रों से विलग हो जाता है, मित्रता ध्वंस कर लेता है।

४. दुश्शील व्यक्ति निंदा और अपयश प्राप्त करता है परंतु शीलवान सदा कीर्ति और प्रशंसा प्राप्त करता है।

५. शील का पारायण सभी कुशलताओं का उद्गम है, उनका प्रतिष्ठापित आधार है, कल्याण का जन्मदाता है और सभी धर्मों में प्रमुख-प्रधान है। इसलिए शील की शुद्धता संपादित करें।

६. शील दुराचरण के सामने लगी हुई सीमा-रेखा है। शील मन का संवर है। शील चित्त की अतीव प्रसन्नता है। शील सभी बुद्धों का वह तीर्थ है, जहां सारे दुष्कर्मों के मैल धो दिये जाते हैं, जहां से आगे बढ़ कर निर्वाण के शांति सागर में डुबकी लगायी जाती है। इसलिए शील की शुद्धता का संपादन करें।

७. शील मार की सेना को परास्त करने के लिए अप्रतिम बल है। शील विकार-समूहों को ध्वस्त करने के लिए उत्तम अस्त्र है। शील धर्मवंतों का आभरण-अलंकरण है। शील अपनी सुरक्षा के लिए अद्भुत कवच है।

८. विकारों में डूबने से बचने के लिए और संसार को पार कर सकने के लिए शील एक महान सेतु है, पुल है। शील ऐसी सर्वजन मनोहारिणी उत्तम सुगंध है, श्रेष्ठ लेप है, जिसकी सुरभि सभी दिशाओं में प्रवहमान होती है।

९. भव-कांतार को पार करने वाले धर्म-संपन्न व्यक्ति के लिए शील श्रेष्ठ संबल है, सहारा है। शील उत्तम पाथेय है। शील ऐसा वाहन है जिस पर सवार हो, दुर्गम कांतार से बाहर निकलने के लिए सभी दिशाओं में जाया जा सकता है।

१०. शील में असमाहित पापाचारी यहीं इस लोक में निंदा, अपयश का भागी होता है और परलोक में अपायगति प्राप्त कर दुःखी होता है। ऐसा मूढ़ व्यक्ति सर्वत्र दुर्मन दुःखी रहता है।

११. शील में समाहित धर्मचारी यहीं इस लोक में यश-कीर्तिलाभी होता है और परलोक में भी स्वर्गीय सुख-भोगी होता है। ऐसा सुधी व्यक्ति सर्वत्र सुमन-सुखलाभी होता है।

१२. यहां इस विमुक्ति मार्ग पर शील अग्र है, प्रमुख है; प्रज्ञा उत्तम है, श्रेष्ठ है। शील और प्रज्ञा के संयोग से मनुष्यों और देवताओं को सदा विजय की प्राप्ति होती है।

शील महात्म्य की कैसी सांगोपांग अभिव्यंजना!

सचमुच शील आधार है प्रज्ञा का और प्रज्ञा आधार है विमुक्ति का। बिना शील के प्रज्ञा जागृत नहीं हो सकती –

न हि सीलेन विना पञ्ञा सम्भवति ।

और प्रज्ञा के बिना केवल शील मुक्तिदायी नहीं हो सकता। प्रज्ञाविहीन शीलवान व्यक्ति **किच्चकर** (कृत्यकर) होता है, **किच्चकत** (कृतकृत्य) नहीं। शील और प्रज्ञा दोनों एक दूसरे के उपकारक हैं, सहायक हैं, बल-प्रदायक हैं। इसीलिए कहा गया है कि जैसे एक हाथ से रगड़ कर दूसरे हाथ को धोते हैं,

जैसे एक पांव से रगड़ कर दूसरे पांव को धोते हैं, वैसे शील को प्रज्ञा से रगड़ कर धोयें और प्रज्ञा को शील से रगड़ कर धोयें। विमुक्ति अवश्यंभावी है।

कोई सामान्य वक्ता भी शील और प्रज्ञा की ऐसी व्याख्या कर सकता है, पर उसका इतना असर नहीं होता। यहां शील की महिमा उस शीलवान ने गायी है, जो कि शील के आधार पर प्रज्ञा जगा कर अरहंत बन चुका है। इसीलिए उसकी वाणी ऐसी करुणासिक्त और ओजपूर्ण है कि जिसे सुन कर विपुल पारिश्रमिक पाने के लोभ में वध करने आये हुए हत्यारे भी बदल गये, उनका मानस बदल गया। उनके मन में धर्म-संवेग जागा, निर्वेद जागा। सब ने संत सीलवा के चरणों में सिर झुका दिया और गलत आजीविका त्याग कर स्वस्ति-मुक्ति के सही धर्म-मार्ग के अनुगामी हो गये।

धन्य है शील की महिमा! आओ! हम भी अपना शील पुष्ट करें और प्रज्ञा-पथ पर पग-पग बढ़ते हुए अपना मंगल साध लें!

धर्म-मैत्री

धर्म-मैत्री

१. धन्य है मैत्री भावना

१. धन्य है मैत्री भावना

बड़ा सरल है शांत रहना, बड़ा सरल है क्रोध-कोप विहीन रहना, बड़ा सरल है मुस्कराते रहना जबकि जीवनधारा एक मधुमय संगीत की भांति सर्वथा मनोनुकूल बह रही हो, जबकि हमारे संसर्ग में आने वाला हर व्यक्ति हमारी मनचाही बोल रहा हो, मनचाहा कर रहा हो, हमारी सारी मनोकामनाएं सहज-सरल रूप से पूरी हो रही हों, चारों ओर बसंत की हरियाली ही हरियाली हो, कहीं पतझड़ का नाम न हो। परंतु सच्चा साधक तो वही है जो सर्वथा विपरीत अवस्थाओं में मन की समता बनाये रख सके। जब जीवन में मनचाही जरा भी न हो, जीवन-पथ ऊबड़-खाबड़ ही ऊबड़-खाबड़ हो, चारों ओर कँटीला पतझड़ हो, हरियाली का नामोनिशान न हो, जो मिले वही कटुता का व्यवहार करे, अकारण अपमानित करे, सारी घटनाएं अनचाही ही घटें, मनचाही एक भी न घटे; तो भी अपने मन में लेशमात्र भी द्वेष-द्रोह न जागने पाये, कोप-क्रोध न जागने पाये। अनचाही से निष्प्रभावित हो सौम्यचित्त, करुणा और मैत्री के अगाध जलाशय सदृश सौमनस्यता से लहराता रहे। बाहरी प्रतिकूल परिस्थितियों से किंचित भी विचलित न हो। रंचमात्र भी दौर्मनस्य न जागे। तो ही सही माने में परिपक्व विपश्यी साधक है। हमें इस अवस्था तक पहुँचने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना है।

भगवान ने भिक्षुओं को यही बात समझाते हुए एक उदाहरण प्रस्तुत किया। भूतकाल में श्रावस्ती नगरी में वैदेहिका नाम की एक गृहिणी इस बात के लिए बहुत लोक-प्रसिद्ध थी कि वह अत्यंत शांत-सौम्य स्वभाव वाली है। उसमें कलह-क्रोध का नामोनिशान नहीं है। कड़वी-कटु बात उसकी जबान पर कभी नहीं आती। एक नौकरानी थी उसके यहां– काली नाम की। बेहद परिश्रमी, सेवा-भावी, हँसमुख, विनम्र, विनीत। मालकिन से पहले उठ कर घर का सारा काम-काज बड़ी मुस्तैदी से कुशलतापूर्वक निपटा लेती। मालकिन को शिकवा-शिकायत का कभी मौका ही नहीं मिलता। घर सदा साफ-सुथरा, सजा-सँवरा रहता। मनपसंद भोजन समय पर तैयार मिलता। घर में कोई मेहमान आ जाय तो उसकी खातिर तवज्जह में कहीं कोई कमी नहीं रहती। सब कुछ मनचाहा, सब कुछ मनभाना। सुहावना ही सुहावना। यह सब कुछ दासी काली की बदौलत। मालकिन के होठों पर सदा मंद-मंद स्मिति, मंद-मंद मुस्कान।

मालकिन के सौम्य स्वभाव को काली रोज देखती। बाहर भी इसकी चर्चा सुनती। एक बार उसके मन में आया कि अपनी मालकिन की परीक्षा ले कर देखे। क्या वह निसर्गतः सौम्य स्वभाव वाली है अथवा काली की निर्दोष सेवा के कारण ऐसी है।

दूसरे दिन काली जानबूझ कर देर से उठी और घर का काम-काज समय पर नहीं कर पाई। मालकिन को बहुत बुरा लगा। अगले दिन और देर से उठी तो मालकिन की झल्लाहट बढ़ी। उसने गुस्से में काली पर गालियां बरसायीं। तीसरे दिन और देर से उठी। अब तो मालकिन से सहा नहीं गया। उसका पारा बहुत तेज हो गया। बात गाली-गलौज पर ही नहीं रुकी। वह क्रोधित हुई और पास पड़ी हुई कलछी काली के सिर पर दे मारी। सिर से खून की धारा बह चली। मालकिन के सौम्य स्वभाव की पोल खुल गयी। अनचाही के प्रति क्रोध करने का दूषित स्वभाव मानस की जड़ों तक बड़ा सबल होता है, दृढ़मूल होता है। परंतु मनचाही होती रहे तो ऊपर-ऊपर की प्रसन्नता उसे ढांपे रखती है। स्वभाव तो भीतर का बदलना है। सीखना यह है कि अनचाही में हम अकुपित और शांत-सुमन कैसे रह सकें।

उन्हीं दिनों एक भिक्षु का भिक्षुणी-संघ के प्रति जरूरत से ज्यादा लगाव हो गया था। भिक्षुणियों के खिलाफ कोई एक शब्द भी बोले तो वह चिड़चिड़ा उठता था। उसे ही लक्ष्य कर भगवान ने उस समय सच्ची और गहरी सहिष्णुता भरी मैत्री का सारगर्भित उपदेश दिया। भगवान ने समझाया – "भिक्षुओ, कोई व्यक्ति तुमसे समयानुकूल बोले या प्रतिकूल, सच बोले या झूठ, स्नेह-स्निग्ध मृदुल वाणी बोले या कर्कश-कटु, सार्थक बोले या निरर्थक, मैत्रीपूर्ण चित्त से बोले या द्रोहपूर्ण चित्त से, तुम्हें तो हर अवस्था में अपने चित्त को विकार-विमुक्त रखना चाहिए। तुम्हारे मुँह से भूल कर भी कोई दुर्वचन न निकले। चित्त सदा मैत्रीभाव से आप्लावित रहे। जरा भी द्वेष-दुर्भाव न जागे, बल्कि उसी व्यक्ति को आलंबन बना कर अपनी मंगल-मैत्री को अपरिमित बनाने का अभ्यास आरम्भ कर दें। इस प्रकार उसे अपने कल्याण का कारण बना लें।

उन गृहत्यागी, निर्वाणोन्मुख भिक्षुओं को भगवान ने उपमाओं से समझाया –

१. कोई नासमझ व्यक्ति हाथ में कुदाल-फावड़ा ले कर आये और कहे कि मैं इस महापृथ्वी को खोद-खोद कर समाप्त कर दूंगा।

२. कोई नासमझ व्यक्ति लाख, हल्दी या मजीठ का रंग घोल कर लाये और कहे कि मैं इस सारे आकाश को इस रंग से रँग दूंगा।

३. कोई नासमझ व्यक्ति घास-फूस इकट्ठा कर आग जलाये और कहे कि इससे मैं गंगा के सारे जल को तपा दूंगा।

४. कोई नासमझ व्यक्ति सुकोमल, मुलायम बालों वाली बिल्ली के शरीर को किसी खुरदरी लकड़ी से रगड़े और कहे कि मैं इन बालों को खुरदरा बना दूंगा।

तो ये सब के सब असफल ही होंगे। इसी प्रकार कोई तुम्हारी समता भंग करना चाहे, तुम्हें क्रुद्ध करना चाहे तो भले हजार प्रयत्न करे, पर यदि तुम्हारी मैत्री सबल होगी तो वह असफल ही होगा।

पृथ्वी महान है। किसी की कुदाल से खोदी जाने पर नष्ट होने वाली नहीं। आकाश अनंत है। किसी के रंगों से रँगा जा सकने वाला नहीं। गंगा विशाल है। किसी घास-फूस की आग से तपाई जा सकने वाली नहीं। बिल्ली के रोएं स्वभाव से कोमल हैं। किसी खुरदरी लकड़ी से रगड़े जाने पर खुरदरे बन जाने वाले नहीं।

इसी प्रकार किसी भिक्षु की मैत्री अनंत-अपरिमित हो और यह उसका स्वभाव बन जाय तो किसी व्यक्ति के सीमित प्रयत्नों द्वारा नष्ट हो जाने वाली नहीं। अतः भिक्षुओं को अपना मैत्री-बल अपरिमित कर लेना चाहिए। यहां तक कि यदि दो दुष्ट दुर्जन दो मूठ वाले किसी आरे को पकड़ कर भिक्षु के शरीर का कोई अंग भी काटें तो उनके प्रति द्वेष न जगने पाये। मैत्री ही जागे। तो ही भगवान की शिक्षा के पालन की सफलता है। अतः अपना मैत्री-बल अपरिमित करें!

अनेक भिक्षु ऐसे होते थे जो भगवान के आदेश को शिरोधार्य कर गम्भीरतापूर्वक उसका पालन करने लगते थे। उदाहरणस्वरूप एक बार भगवान ने कहा कि वह एकासन भोजनसेवी हैं याने चौबीस घंटे में केवल एक ही बार भोजन करते हैं। इससे उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है। वह निरोगी रहते हैं। उनकी स्फूर्ति और बल बढ़ता है और शारीरिक सुख भी। इसे सुन कर अनेक भिक्षु एकासन भोजनसेवी बने। यद्यपि भिक्षु-विनय के नियमों के अनुसार केवल विकाल भोजन यानी मध्याह्नोपरांत के भोजन से विरत रहना ही पर्याप्त था।

इसी प्रकार इस सबल मैत्री भावना के विकास में अनेक भिक्षु लग गये। एक उज्ज्वल उदाहरण –

सूनापरांत के सुप्पारक पत्तन (बंदरगाह) का निवासी, 'पूर्ण' नामक व्यापारी व्यवसाय हेतु श्रावस्ती गया। वहां भगवान के संपर्क में आया तो धर्म के संपर्क में आया। बहुत वैराग्य जागा और वहीं प्रव्रजित हो भिक्षु संघ में सम्मिलित हो गया। वह भगवान के उपदेशों का दृढ़तापूर्वक पालन करने वाला था। कुछ समय पश्चात स्वदेश लौटने का मन हुआ तो भगवान से आज्ञा लेने गया।

भगवान ने पूछा – "सूनापरांत जनपद के लोग बड़े कठोर हैं। चंड स्वभाव वाले हैं। वे तुझ पर आक्रोश करेंगे। तुझे कटु वचन बोलेंगे। तो तुझे कैसा लगेगा, पूर्ण?"

"मुझे अच्छा ही लगेगा, भगवान! मेरे मन में यही भाव जागेगा कि सूनापरांत के लोग बड़े भद्र हैं, सुभद्र हैं। बहुत भले हैं। मुझ पर नाराज होने पर केवल चंद कटु वचन कह कर आक्रोश प्रकट करते हैं, मुझे हाथ से तो नहीं मारते।"

– "यदि वे तुझे हाथ से मारें, तो कैसा लगेगा, पूर्ण?"

– "अच्छा ही लगेगा, भगवान! मेरे मन में यही भाव जागेगा कि ये कितने भद्र हैं, सुभद्र हैं। कितने भले हैं। केवल हाथों से मार कर रह गये। ढेलों से तो नहीं मारा।"

– "और यदि वे ढेलों से मारें, तो कैसा लगेगा, पूर्ण?"

– "अच्छा ही लगेगा, भगवान! मेरे मन में यही भाव जागेगा कि कितने भले हैं, कितने भद्र हैं, सुभद्र हैं ये लोग। केवल ढेले से मार कर रह गये। डंडे से तो नहीं मारते मुझे। सचमुच भले हैं।"

– "और यदि डंडे से मारें तो कैसा लगेगा, पूर्ण?"

– "अच्छा ही लगेगा, भगवान! मेरे मन में यही भाव जागेगा कि कितने भद्र हैं, सुभद्र हैं, कितने भले हैं यहां के लोग। केवल डंडे से मार कर रह गये। शस्त्र से नहीं मारते मुझे। सचमुच बड़े भले हैं।"

– "और यदि शस्त्र से मारें तो कैसा लगेगा, पूर्ण?"

– "अच्छा ही लगेगा, भगवान! मन में यही भाव जागेगा कि कितने भद्र हैं, सुभद्र हैं यहां के लोग। कितने भले हैं। सामान्य शस्त्र से मार कर घायल ही तो किया। किसी तेज शस्त्र से मार कर मेरे प्राण तो नहीं हर लिये।"

– "और यदि वे तुझे तेज शस्त्र से मार डालें, तो कैसा लगेगा, पूर्ण?"

– "अच्छा ही लगेगा, भगवान! कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो दु:खमय जिंदगी से ऊब कर मरने के लिए किसी शस्त्रधारी प्राणघातक को ढूंढते हैं। सो मुझे ये शस्त्रधारी प्राणघातक बिना ढूंढे ही मिल गये। कितने भले हैं यहां के लोग।"

"साधु! साधु! साधु!" भगवान ने साधुकार दे कर कहा – "पूर्ण! तू ऐसे धर्ममय चित्त से अपनी मातृभूमि में सफलतापूर्वक निवास कर सकता है और धर्म-सेवा कर सकता है।"

यों भगवान का आशीर्वाद ले कर भिक्षु पूर्ण स्वदेश लौटा और आते हुए भगवान से जो साधना-विधि सीखी थी उसका अभ्यास करते हुए पहले ही वर्षावास में उसने अरहंत अवस्था प्राप्त कर ली। पहले ही वर्षावास में उस प्रदेश के एक हजार नर-नारियों को शुद्ध धर्म में प्रतिष्ठापित कर दिया। तदनंतर उनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती गयी। अनेक लोगों को धर्म-लाभ मिला।

भगवान के प्रशिक्षण के अनुकूल सधे हुए असीम मैत्री-बल से भिक्षु पूर्ण ने उस प्रदेश में जो शुद्ध धर्म का बीज वपन किया, वह कालांतर में खूब फैला, खूब फूला, खूब फला।

आज के महाराष्ट्र का समस्त उत्तरी तथा पूर्वी प्रदेश अरहंत पूर्ण की धर्म-सेवा के कारण शुद्ध धर्म की पावन गंगा से लहलहा उठा। मैत्री-बल से कठोर स्वभावी लोग मृदु स्वभावी हो गये। इस प्रदेश में स्थान-स्थान पर कठोर चट्टानों में कटी हुई ध्यान गुफाएं मैत्री-प्रबल अरहंत पूर्ण और उसके योग्य शिष्यों-प्रशिष्यों की अपूर्व सफलता की आज भी मधुर याद दिलाती हैं; वहां की पावन लहरियां उनकी गौरव गाथाएं गाती हैं।

धन्य है मंगलमयी मैत्री-भावना! धन्य है मैत्री-भावना से परिपूर्ण पूर्ण!!

२. अनमोल भेंट

राज्य का शासक होने के कारण प्रजा के विभिन्न सांप्रदायिक वर्गों को प्रसन्न रखने के लिए मगध-नरेश बिंबिसार उन दिनों के सभी आचार्यों के प्रति मान-सम्मान बनाये रखता था। उन्हें जिस प्रकार पहले दान-दक्षिणा देकर संतुष्ट रखता था वैसे ही अब भी रखता रहा। भगवान का यही आदेश भी था कि अपने पूर्व आचार्यों को दी जानेवाली दान-दक्षिणा में कोई कमी न आने पाये।

परंतु अब तो वह भगवान बुद्ध और उनके सिखाये हुए सांप्रदायिकता-विहीन शुद्ध धर्म के प्रति अनन्यभाव से समर्पित था, क्योंकि इसी मार्ग पर चल कर उसने स्वयं सत्य का साक्षात्कार किया था और स्रोतापन्न बना था। उसकी श्रद्धा अटूट थी।

उन्हीं दिनों की एक घटना।

रोरुव नगर का शासक महाराज तिष्य। दूरी के कारण एक दूसरे से साक्षात्कार न हो सका, परंतु राजदूतों के माध्यम से और पारस्परिक संदेशों के आदान-प्रदान से वह श्रेणिक बिंबिसार का परम मित्र हो गया था। उसे अपना परम सहायक मानने लगा था।

एक बार महाराज तिष्य ने अपने अनदेखे परम मित्र और सहायक महाराज बिंबिसार को अपने राजदूत के जरिए बहुमूल्य वस्त्राभूषण और मणिमुक्ता से भरा थाल उपहार-स्वरूप भेजा। बिंबिसार बहुत प्रसन्न हुआ। उसे भी बदले में अपने मित्र को कोई उपहार भेजना था। रत्नों का ही उपहार भेजा जाना उपयुक्त था। परंतु ऐसे उपहार पहले अनेक बार भेजे जा चुके थे। इस बार कोई अनोखा उपहार भेजना चाहिए। अब तो बुद्ध की शरण आ गया था। तुरंत यह बात ध्यान में आयी;

यं किञ्चि वित्तं इध वा हुरं वा, सग्गेसु वा यं रतनं पणीतं।

न नो समं अत्थि तथागतेन, इदम्पि बुद्धे रतनं पणीतं।

इदम्पि धम्मे रतनं पणीतं, इदम्पि सङ्घे रतनं पणीतं।

– ये जो भी भौतिक रत्न-संपदा यहां मेरे पास है अथवा वहां मेरे मित्र के पास है, अथवा जो भी बहुमूल्य रत्न स्वर्गलोकों में हैं, उनमें से किसी का भी मुकाबला उस रत्न से नहीं किया जा सकता, जो कि तथागत में है, ऐसा

अनमोल रत्न बुद्ध में, धर्म में, और संघ में है। क्यों न मैं ऐसा सर्वोत्तम, सर्वमाङ्गल्यमय अनुपम रत्न अपने मित्र के पास भेजूं?

अतः उसने एक कुशल कलाकार को बुलवाया और एक चित्रपट पर बुद्ध-कथा अंकित करवायी। ऐसे हैं भगवान अरहंत, सम्यक संबुद्ध, जो कि शाक्य-वंश के राजकुल में जन्मे और सत्य की खोज में घर से बेघर हो अरण्यवासी हुए। विभिन्न साधना पद्धतियों का अभ्यास करके भी लक्ष्य-सिद्धि नहीं हुई तो स्वयं प्रयत्न करके विपश्यना पद्धति खोज निकाली और उसका अभ्यास कर सम्यक संबुद्ध बने। करुणचित्त से वाराणसी के मृगदाय वन में धर्मचक्र प्रवर्तन किया और फिर लोगों पर अनुकंपा करते हुए बहुजन के हित-सुख के लिए, राजा और प्रजा के भले के लिए वे ऐसे शुद्ध धर्म का प्रज्ञापन कर रहे हैं, जो कि आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी और अंत में कल्याणकारी है। ऐसा धर्म जो केवल परिपूर्ण है, केवल परिशुद्ध है। केवल परिपूर्ण इस माने में कि शील-समाधि-प्रज्ञा वाले इस आर्य अष्टांगिक मार्ग में और कुछ जोड़ने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि इसमें कोई कमी नहीं। केवल परिशुद्ध इस माने में कि इसमें से कुछ निकालने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि इसमें रंचमात्र भी कहीं कोई अशुद्धि नहीं। भगवान धर्म को शब्दों के स्तर पर ही नहीं, अर्थ के स्तर पर समझाते हुए अच्छी तरह आख्यात करते हैं। केवल सिद्धांतों के स्तर पर ही नहीं, बल्कि व्यवहार के स्तर पर प्रकाशित करते हैं। इस ब्रह्माचरण को, धर्माचरण को स्वयं अपने जीवन में उतार कर प्रकाशित करते हैं।

ऐसा धर्म जो भली प्रकार सुआख्यात है, जो सांदृष्टिक है, जिसमें काल्पनिक मान्यताओं को कोई स्थान नहीं, जो अकालिक है यानी जिसके पालन करने पर यहीं फल प्राप्त होता है, जिसे कोई भी आये और देख ले, जो मुक्ति के लिए सीधा मार्ग है, और जो हर समझदार व्यक्ति के लिए स्वयं अनुभव करने योग्य है।

ऐसे हैं इस विशुद्ध मार्ग पर चलने वाले साधकसंघ जो कि स्रोतापन्न हैं या सकदागामी हैं या अनागामी हैं या अरहंत हैं। इसलिए पूज्य हैं, अनुत्तर पुण्य क्षेत्र हैं।

ऐसा है यह अनुत्तर धर्मशासन, ऐसे हैं इस सद्धर्म के महाकारुणिक शास्ता, ऐसा है इस शास्ता द्वारा अनुशासित विमल श्रावक संघ।

और फिर एक स्वर्ण-पत्र पर प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत उत्कीर्ण करवाया। जब छह इंद्रियों पर तत्संबंधित विषयों के संस्पर्श से संवेदना होती है,

तब अविद्या की वजह से रागद्वेषमयी तृष्णा जागती है, और यों दुःखों का आरंभ हो जाता है। अपनी ही नासमझी से उसका संवर्धन होने लगता है। दूसरी ओर विपश्यना विद्या द्वारा इन छह इंद्रियों के निरोध हो जाने से स्पर्श का स्वतः निरोध हो जाता है। इस इंद्रियातीत, वेदनातीत अवस्था में तृष्णा का निरोध हो जाता है तो दुःख का ही निरोध हो जाता है। नए संस्कार बनते नहीं और पुराने सभी क्षीण हो जाते हैं तो साधक स्वतः विमुक्त अवस्था प्राप्त कर लेता है।

सार्वजनिक, सार्वकालिक, सार्वदेशिक धर्म-नियामता का यह सिद्धांत एक स्वर्ण-पत्र पर अंकित करवाया। इस चित्रपट और स्वर्ण पत्र को अपने मित्र तिष्य के पास भेज दिया, जो कि अनमोल रत्न होने के कारण मित्र के लिए अत्यंत कल्याणकारी साबित हुआ।

तिष्य ने जब इस धर्म-रत्न का संदेश पढ़ा तो उसके मन में तीव्र धर्म-संवेग जागा। लोक में कोई व्यक्ति बुद्ध बना है! और मुक्तिदायक शुद्ध धर्म सिखा रहा है! और हजारों की संख्या में लोग उसका अभ्यास कर विमुक्त अवस्था का साक्षात्कार यहीं इसी जीवन में कर रहे हैं! यह संदेश सचमुच बड़ा प्रेरणादायक था। तिष्य ने अपना राजपाट छोड़ा, घरबार छोड़ा और राजगृह आकर भगवान की शरण ग्रहण की। उसने प्रव्रजित हो उनसे विपश्यना साधना सीखी और कठोर परिश्रम करके अचिरकाल में ही मुक्त अवस्था प्राप्त कर ली। तिष्य स्थविर अरहंतों में से एक हुए। मुक्ति की उस अवस्था में उन्होंने धर्म का जो उदान गाया, वह यों है;

हित्वा सतपलं कंसं, सोवण्णं सतराजिकं।
अग्गहिं मत्तिकापत्तं, इदं दुतियाभिसेचनं॥

– भारी कांसे के पात्रों का और बहुमूल्य सुंदर सुचित्रित सुवर्ण पात्रों का परित्याग कर यह जो मिट्टी का भिक्षापात्र ग्रहण किया, यही मेरा दूसरा अभिषेक है।

पहला अभिषेक तो विभिन्न नदियों और राजपुष्करिणियों के जल से किया गया राज्याभिषेक था जो कि कितना नश्वर और कितना निस्सार था। परंतु यह दूसरा अभिषेक शुद्ध धर्मामृत से किया गया, जो कि कितना कल्याणकारी और स्वस्तिमुक्ति प्रदायक साबित हुआ है।

धन्य है यह दूसरा अभिषेक! धन्य है सन्मित्र का अनमोल धर्म-उपहार! कितना सार्थक! कितना सफल!

३. पुक्कुसाति कथा

(क) धरम रतन उपहार

विपश्यना साधना पर भगवान बुद्ध द्वारा दिये गये एक परम कल्याणकारी उपदेश के संदर्भ में एक और चित्र उभर कर आया है, जिसमें मगधनरेश बिंबिसार की धर्म-मैत्री उजागर होती है।

उन दिनों न तो यातायात के और न ही संवाद-संचार के साधन आज जैसी त्वरा और सुविधापूर्ण थे। अतः दूर-दूर देशों के पारस्परिक राजनयिक संबंध स्थापित करना सरल नहीं था। बिंबिसार अपने स्वभाव से ही सुदूर देश के राजाओं से मैत्री-संबंध स्थापित करना चाहता था। अतः ऐसे अवसर देखता रहता था, जिससे उसका मंतव्य पूर्ण हो।

एक बार गंधार देश की राजनगरी तक्षशिला से कुछ व्यापारी उस ओर की उपज का सामान मगध देश में बेचने तथा यहां की उपज का सामान खरीद कर अपने देश में ले जाने के लिए राजगृह आये। उन दिनों व्यापारियों के ऐसे 'सार्थ' यानी 'कारवां' के जरिए ही दो देशों का पारस्परिक व्यापार-वाणिज्य चलता था। ये व्यापारी राजगृह पहुँचने पर, उन दिनों की मान्य प्रथा का पालन करते हुए सर्वप्रथम महाराज बिंबिसार को नजराना भेंट करने के लिए, उसके दर्शनार्थ राजदरबार में पहुँचे।

कुशल-क्षेम पूछने के बाद बिंबिसार ने प्रश्न किया – "किस देश से आये हो?"

"तक्षशिला से महाराज!"

"कौन शासक है तुम्हारे देश का?"

"राजनरेश पुक्कुसाति, महाराज!"

"क्या वह धर्मिष्ठ राजा है?"

"अत्यंत धर्मिष्ठ है महाराज! प्रजा का पालन अपनी संतान की भांति करता है। प्रजा के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता है।"

"क्या उम्र है उसकी?"

"आप जितनी ही महाराज!"

“उम्र में भी मेरे बराबर और प्रजा-वत्सलता का राजधर्म निभाने में भी मेरे समकक्ष। तब तो ऐसे व्यक्ति से मैं अवश्य मैत्री-संबंध स्थापित करना चाहूंगा। वणिको, क्या तुम मेरी इच्छा-पूर्ति में सहायक बन सकते हो?”

“अवश्य महाराज!”

“तो जाओ, व्यापार-धंधे का काम पूरा करके स्वदेश लौटने के पहले मुझसे एक बार फिर मिल लेना। तुम्हारे माध्यम से मैं तुम्हारे नरेश के प्रति मैत्री-संदेश भेजूंगा।”

“ऐसा संदेश ले जाने में हमें अत्यंत प्रसन्नता ही होगी महाराज!”

कुछ दिनों बाद वे अपने साथ लाये हुए गांधारी उपज का सामान बेच कर, मागधी उपज का सामान खरीद कर स्वदेश लौटने लगे तो वायदे के अनुसार महाराज बिंबिसार से मिलने आये।

महाराज बिंबिसार ने कहा, “नरेश पुक्कुसाति से मिलने पर मेरी ओर से बार-बार उसका कुशल-क्षेम पूछना और कहना कि मैं उसे अपना मित्र बनाने के लिए उत्सुक हूं। उसके प्रति मेरा गहरा मित्रभाव प्रकट करना।”

व्यापारियों ने स्वीकृति दी और प्रसन्नचित्त स्वदेश लौटे। तक्षशिला में गंधार नरेश पुक्कुसाति से मिल कर उसे मगध सम्राट का मैत्री-संदेश दिया। पुक्कुसाति बहुत आह्लादित हुआ। उसने व्यापारियों के प्रति अपना आभार प्रकट किया। मगध जैसे विशाल, शक्तिशाली साम्राज्य के सम्राट से मित्रता होनी गंधार-नरेश के लिए सचमुच गौरव की बात थी। इस मैत्री को अधिक पुष्ट करने के लिए उसने समझदारी के अनेक राजनयिक कदम उठाये।

कुछ ही दिनों में मगध देश से व्यापारियों का एक सार्थ वाणिज्य हेतु तक्षशिला पहुँचा। ये व्यापारी जब भेंट-नजराना ले कर गंधार-नरेश से मिलने आये तो उसने प्रसन्नता प्रकट की। मगध-नरेश के कुशल-स्वास्थ्य के बारे में पूछ-ताछ की और यह घोषणा की कि ये व्यापारी मेरे मित्र के देश से आये हैं। अतः मेरे अतिथि हैं, गंधार राज्य के अतिथि हैं। उसने तक्षशिला नगर में भेरी बजवा दी कि मेरे मित्र मगध-सम्राट के देश से जो व्यक्ति गंधार देश में व्यापार करने आये, अकेला या सार्थ समूह के साथ, पैदल या गाड़ी पर, जैसे भी आये, उसे राजकीय मेहमान माना जाय। साथ-साथ यह भी ध्यान रखा जाय कि मेरे मित्र-देश के नागरिक होने के कारण ऐसे लोगों की सुरक्षा का विशेष प्रबंध हो। उन्हें राजकीय कोष्ठागार (अतिथिशाला) में ठहराया जाय। उन्हें मेरे देश में कोई कष्ट न हो। उनके साथ आये बिक्री के सामान पर कोई आयात चुंगी न ली जाय।

सम्राट बिंबिसार को जब यह सूचना मिली तो उसने भी महाराज पुक्कुसाति को अपना अदृश्य मित्र घोषित करते हुए अपनी राजधानी में यह डुगडुगी पिटवा दी कि गंधार देश के व्यापारियों को वे सारी सुविधाएं दी जायँ जो कि मगध के व्यापारियों को गंधार देश में दी जाती हैं।

आजकल भी दो राष्ट्रों में मैत्री-संधि होने पर आवागमन, आयात-निर्यात और चुंगी की मुआफी अथवा अन्य राष्ट्रों के मुकाबले कम चुंगी लिए जाने का प्रावधान होता है। मित्र-राष्ट्र को 'मोस्ट फेवर्ड नेशन' घोषित किया जाता है और 'ड्यूटी-फ्री' या 'ड्यूटी-प्रिफरेंस' की सुविधा दी जाती है। वर्तमान युग की इसी राजनयिक नीति का यह पूर्व संस्करण हमें इस चित्र में देखने को मिलता है। परंतु विशेषता यह है कि उन दिनों मित्र-राष्ट्र के नागरिकों को राज्य-अतिथि का-सा सम्मान भी दिया जाता था। परंतु यह तभी संभव था, जबकि लोगों का आना-जाना बहुत सीमित संख्या में हुआ करता था। जो भी हो, उपरोक्त घटना यह साबित करती है कि उन दिनों के भारत में भी दो देशों की मित्रता निभाने के लिए इस प्रकार की सुविधाएं दी जाती थीं। हां, यह अंतर अवश्य था कि एकतंत्र शासकों का राज्य होने के कारण दो शासकों की व्यक्तिगत मैत्री ही दो राष्ट्रों की मैत्री में बदल जाती थी। जैसे कि मैत्री तो बिंबिसार और पुक्कुसाति में हुई और उसका लाभ दोनों देशों के नागरिकों को और उनके पारस्परिक व्यवसाय-व्यापार को मिला।

दोनों शासकों का मैत्रीभाव दिनोंदिन दृढ़ से दृढ़तर होता गया। एक दूसरे को देख नहीं पाये, परंतु समय बीतते-बीतते पारस्परिक पत्राचार से तथा बहुमूल्य उपहारों के आदान-प्रदान से अत्यंत पुष्ट हो गया।

जैसे आज के कश्मीर में वैसे ही उन दिनों के कश्मीर में भी, जो कि गंधार देश का एक अंग था, बहुमूल्य ऊनी शाल-दुशाले बनते थे, जो कि मगध जैसे मध्यदेश में दुर्लभ थे। एक बार पुक्कुसाति ने अपने मित्र को आठ बहुत कीमती और खूबसूरत पँचरंगी ऊनी शालें भेजीं, जिनकी बनावट अद्वितीय थी। यह तोहफ़े की पिटारी बड़ी धूमधाम के साथ राजगृह भेजी गयी, जहां एक बृहत समारोह में, राज-अमात्यों और प्रमुख नागरिकों की उपस्थिति में खोली गयी। लोग इन उपहारों को देख कर हर्ष और विस्मय-विभोर हुए। ऐसी बेशकीमती शालें मगधवासियों ने पहले कभी देखी भी नहीं थीं, प्रयोग करना तो दूर रहा। कैसा नयनाभिराम रंग! कैसा सुकोमल स्पर्श और कितनी विशाल! प्रत्येक शाल आठ हाथ चौड़ी और सोलह हाथ लंबी!

लोगों ने अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए अँगुलियां चटकाई और अपने दुपट्टे हवा में उछाले (जिस प्रकार कि आजकल ताली बजा कर हर्ष प्रकट करते हैं)। बिंबिसार भी इन उपहारों से बहुत प्रसन्न हुआ। उसने इनमें से चार शालें भगवान के विहार में दान-स्वरूप भिजवा दीं और शेष चार राजमहल में। लोग भी इन दुर्लभ उपहारों की प्रशंसा करते हुए अपने-अपने घर लौटे। गंधार-नरेश पुक्कुसाति ने अपने मित्र मगधराज को कीमती शाल भेजी, इसकी खूब लोक-चर्चा हुई। राजमहल लौट कर बिंबिसार सोचने लगा कि मित्र की इस रत्न-सदृश बहुमूल्य भेंट के बदले मुझे इससे अधिक मूल्यवान भेंट भेजनी चाहिए। क्या राजगृह में इससे उत्तम रत्न नहीं है, जिसे उपहार-स्वरूप भेजा जाय? अवश्य है।

बिंबिसार जब से भगवान के संपर्क में आया और अपने भीतर नित्य, शाश्वत, ध्रुव, अमृतपद निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार करके स्रोतापन्न हुआ, तब से बहुमूल्य से बहुमूल्य, महार्घ से महार्घ लोकीय वस्तु उसके लिए स्पृहणीय नहीं रह गयी। यद्यपि वह अपने सांसारिक उत्तरदायित्व को भलीभांति निभाता रहा, पर आसक्तियां टूटने लगीं। अब वह रत्न का सही पारखी बन गया। अतः इसी दिशा में उसका चिंतन चला।

संसार में रत्न तो बहुत प्रकार के होते हैं। हीरे-पन्ने जैसे निर्जीव रत्नों की तुलना में सजीव रत्न उत्तम। हाथी-घोड़े जैसे सजीव रत्नों की तुलना में पुरुष और नारी रत्न उत्तम। सामान्य पुरुष-नारी रत्नों की तुलना में आर्य श्रावक रत्न उत्तम। आर्य श्रावक रत्नों की तुलना में बुद्ध-रत्न ही सर्वोत्तम। मैं सचमुच भाग्यशाली हूं कि मेरे राज्य में बुद्ध जैसा सर्वश्रेष्ठ रत्न विद्यमान है।

बिंबिसार ने गंधार से आये हुए सार्थवाहकों से पूछा;

"क्या तुम्हारे यहां बुद्ध, धर्म और संघ जैसे रत्न विद्यमान हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया, "नहीं, महाराज!"

बिंबिसार ने सोचा, तब तो मुझे ये ही रत्न भेजने चाहिए, जिससे कि मेरे मित्र का भी कल्याण हो और उस जनपद के निवासियों का भी। अभी-अभी भगवान दुर्भिक्ष और व्याधियों से पीड़ित वैशाली नगर जा कर आये हैं। उनके वहां पहुँचते ही दुर्भिक्ष सुभिक्ष में बदल गया। वैशाली की सारी आधि-व्याधि दूर हो गयी। लोग भगवान की शिक्षा की ओर मुड़े। उनका कल्याण हुआ। इसी प्रकार यह बुद्ध-रत्न गंधार देश जाय तो सचमुच उनका बड़ा कल्याण होगा। परंतु वह प्रत्यंत प्रदेश इस मध्यम देश से इतनी दूर है कि वहां विहार करने के लिए भगवान से प्रार्थना करना उचित नहीं लगता।

भगवान के प्रमुख शिष्य सारिपुत्त और महामोग्गल्लान को भी वहां जाने के लिए प्रार्थना नहीं कर सकता, क्योंकि उनके यहां रहने से मुझे अपूर्व आश्वासन मिलता है। जब कभी किसी प्रत्यंत प्रदेश में धर्मचारिका के लिए चले जाते हैं तो थोड़े समय के बाद ही संदेशवाहक भेज कर उन्हें राजगृह आने के लिए साग्रह आमंत्रित करना पड़ता है। उनकी अनुपस्थिति में मुझे बड़ा अभाव-सा लगता है। अतः उन्हें भी इतनी दूर नहीं भेजा जाना चाहिए। तो क्या करूं?

तत्काल मन में यह बात उपजी कि मेरे मित्र के यहां धर्म पहुँच जाय, तो बुद्ध ही पहुँच गये, संघ ही पहुँच गया। आखिर धर्म ही वह रत्न है जो बुद्ध और संघ में है। अतः मेरे मित्र के पास उपहार स्वरूप धर्म ही भेजना चाहिए। बिंबिसार ने यह निर्णय किया और शीघ्र ही धर्म का उपहार भेजने की तैयारी में लग गया। उसने स्वर्णकारों से एक बहुत लंबा स्वर्ण-पत्र बनवाया। न इतना पतला कि मुड़ने पर टूट जाय और न इतना मोटा कि मुड़ ही न पाये।

जब उपयुक्त स्वर्ण-पत्र तैयार हो कर आ गया तो महाराज बिंबिसार सुबह-सुबह नहा-धो कर स्वच्छ, श्वेत, सादे कपड़े पहन कर तैयार हुआ। माला, गंध, विलेपन, मंडन तथा अलंकार-आभूषण आदि धारण करने से विरत रह कर उसने अष्टशील व्रत लिया और प्रातःकाल का नाश्ता करके राजमहल के खुले बरामदे में आ बैठा। उसने एक स्वर्ण-शलाका हाथ में ली और हिंगुल-सिंदूर द्वारा बने विशिष्ट रंग से बड़ी श्रद्धापूर्वक उस स्वर्ण-पत्र पर लिखना आरंभ किया;

'यहां लोक में तथागत उत्पन्न हुए हैं। वे भगवान हैं, अरहंत हैं, सम्यक संबुद्ध हैं, विद्याचरणसंपन्न हैं, सुगत हैं, लोकज्ञ हैं। लोगों को सही रास्ते ले जाने वाले अनुपम सारथी हैं। देवताओं और मनुष्यों के शास्ता हैं। ऐसे हैं भगवान बुद्ध!'

तदनंतर उसने भगवान के जन्म, महाभिनिष्क्रमण, दुष्करचर्या, बोधिवृक्ष तले सम्यक संबोधि के साथ-साथ सर्वज्ञता की उपलब्धि और तत्पश्चात लोक-कल्याण के लिए की जा रही धर्मचारिका के बारे में संक्षेप में लिखा और बताया कि यहां-वहां तथा परलोक में कहीं भी तथागत जैसा अन्य कोई रत्न नहीं है।

इसके बाद अत्यंत श्रद्धापूर्वक धर्म के बारे में लिखा कि जो भगवान सिखाते हैं वह सु-आख्यात है, उसमें रहस्यमयी उलझनें नहीं हैं। सांदृष्टिक है, कल्पनाओं से परे है। अकालिक है, तत्काल फलदायी है। स्वयं आ कर देखने

लायक है, सीधे मुक्ति की ओर ले जाने वाला है, और प्रत्येक समझदार व्यक्ति के लिए स्वयं अनुभूति पर उतारने लायक है।

और फिर भगवान के उपदेशों की संक्षिप्त व्याख्या करते हुए सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों का विवरण दिया और लिखा कि भगवान जब धर्म सिखाते हैं और उसके अभ्यास द्वारा जो समाधि लगती है, वह लोकीय समाधि ही नहीं, प्रत्युत उसके साथ इंद्रियातीत फल-समापत्ति भी प्राप्त होती है। निर्वाण की अवस्था का भी साक्षात्कार होता है।

"समाधिमानन्तरिकञ्ञमाहु" – इस समाधि का कोई मुकाबला नहीं। धर्म में यह भी अनमोल रत्न है।

और फिर संघ-रत्न के बारे में समझाते हुए लिखा कि भगवान का श्रावक संघ सुमार्गी है, ऋजुमार्गी है, ज्ञानमार्गी है, और समीचीनमार्गी है। भगवान उन्हें ही श्रावक संघ मानते हैं, जो कि स्रोतापन्न अथवा सकदागामी अथवा अनागामी अथवा अरहंत पद को प्राप्त कर चुके हैं। वस्तुतः ऐसे व्यक्ति परम पूजनीय हैं। इनमें से कितने ऐसे हैं, जिन्होंने राजसिंहासन त्यागा है या उपराज-पद त्यागा है अथवा मंत्री या सेनापति-पद त्यागा है और प्रव्रजित हुए हैं। यों प्रव्रजित हो कर महाशील का पालन करते हुए इंद्रियों पर स्मृति संप्रज्ञान का पहरा लगा कर संवर करना सीखा है और आस्रवमुक्त अरहंत अवस्था प्राप्त की है।

तदनंतर उसने सोलह प्रकार की आनापान स्मृति-साधना की व्याख्या लिखी। जब पत्र समाप्त करने लगा तो एकाएक एक बात ध्यान में आयी कि मेरे मित्र के पास पूर्व जन्मों की अच्छी पुण्य पारमी होगी तो पत्र पढ़ कर उसके मन में धर्मसंवेग जागेगा। धर्म के सैद्धांतिक पक्ष से वह बहुत प्रभावित होगा। परंतु धर्म का परम मुक्तिदायी मार्ग यानी विपश्यना उसे कैसे प्राप्त होगी? मध्यदेश के लोग बहुत भाग्यशाली हैं जो भगवान से यह विद्या प्रत्यक्ष सीखते हैं और मेरी तरह सांसारिक जिम्मेदारियों को भी निभाते रहते हैं। लेकिन मेरे मित्र पुक्कुसाति के लिए यह शक्य नहीं होगा। उसका कल्याण इसी बात में है कि वह शासन की जिम्मेदारियां किसी अन्य योग्य व्यक्ति को सौंप दे और स्वयं घर-बार छोड़ कर प्रव्रज्या ग्रहण करे और भगवान से विपश्यना सीख कर परम मुक्त अवस्था का साक्षात्कार कर ले। मन में यह भाव आते ही उसने पत्र के अंत में लिखा, "यदि तुम्हारे मन में धर्म-संवेग जागे तो यहां आ कर भगवान से प्रव्रज्या ग्रहण कर लो और अपनी मुक्ति साध लो।"

३. पुक्कुसाति कथा

(ख) चला त्याग कर राज्यसुख

बिंबिसार ने यह पत्र रत्नखचित स्वर्ण-मंजूषा में रख कर उसे एक के ऊपर एक, दस बहुमूल्य पेटियों में बंद करवाया और लाख की चपड़ी लगा राज्य-मुहर से सील-बंद किया। फिर उसे मूल्यवान वस्त्रों से सुसज्जित मंगल हाथी के हौदे पर स्थापित किया और राजकीय श्वेतछत्र से आच्छादित कर एक श्वेतकेतु सैनिक टुकड़ी सहित गाजे-बाजे के साथ तक्षशिला की यात्रा के लिए प्रस्थान करवाया।

रास्ते पर छिड़काव करवा कर बालू बिछवायी। दोनों ओर मांगलिक वंदनवारें तथा स्वच्छ पानीभरे कलश रखवाये और अपने नगर की सीमा तक स्वयं साथ-साथ पैदल गया। इसके आगे की यात्रा के लिए संदेश-वाहकों को आदेश दिया कि धर्मरत्न की यह अनमोल भेंट तक्षशिला तक अत्यंत सम्मानपूर्वक ले जायी जाय और वहां पहुँचने पर मेरे मित्र को मेरी ओर से यह संदेश दिया जाय कि इसे किसी एकांत स्थान में आदरपूर्वक खोल कर देखे।

पुक्कुसाति ने अपना उपहार जनसम्मुख खोले जाने का संदेश भेजा था, ताकि जनता पर दोनों राजाओं की मित्रता की गहरी छाप पड़े। परंतु बिंबिसार अपनी भेंट अकेले में खोले जाने का संदेश भेजता है। बिंबिसार जानता है कि पुक्कुसाति के पास पूर्व-जन्मों की पुण्य-पारमी होगी तो धर्म का यह संदेश पढ़ कर राज्य त्यागने की बात सोचेगा और ऐसी अवस्था में परिवार और राज्यशासन व नगर के अन्यान्य उपस्थित लोग उसके उत्साह को शिथिल करने का प्रयत्न करेंगे। अतः उसके लिए एकांत ही कल्याणकारी होगा।

हजारों मील की लंबी यात्रा पूरी करता हुआ यह शाही कारवां जब गंधारदेश की सीमा पर पहुँचा तो पुक्कुसाति ने अपने अमात्यों को भेज कर इस राज्य-उपहार की समुचित अगवानी करवायी और तक्षशिला तक की यात्रा बड़ी धूमधाम के साथ ससम्मान पूरी करवायी। राजनगरी तक्षशिला की सीमा पर स्वागत के लिए पुक्कुसाति स्वयं पहुँचा और जुलूस के साथ राजमहल तक पैदल चल कर आया।

मित्र बिंबिसार के सुझाव के अनुसार उसने यह अनमोल पिटारी राजमहल के एकांत कक्ष में पहुँचायी और द्वार पर एक प्रहरी बैठा कर अकेले में स्वयं अपने हाथों **उपहार की पिटारी खोली।** लाख की राज्य मुहर तोड़ कर पेटी में से पेटी निकालते हुए, अंत में रत्नखचित स्वर्ण-मंजूषा निकाली और उसे खोल कर गोल लपेटे गये लंबे स्वर्ण-पत्र को अत्यंत आदरपूर्वक बाहर निकाला।

"मेरे मित्र ने मेरे लिए धर्म का यह अनमोल उपहार भेजा है जो मध्यदेश जैसी पावन भूमि में ही उपजता है। यहां मिलना असंभव है।" अतः बड़ी भावभीनी श्रद्धा के साथ स्वर्णपत्र को खोल कर पढ़ने लगा। देखूं, मेरे मित्र का क्या धर्म-संदेश है?

पहली ही पंक्ति थी– **इध तथागतो लोके उप्पन्नो** ।

– यहां लोक में तथागत उत्पन्न हुए हैं।

क्या सचमुच संसार में तथागत बुद्ध उत्पन्न हुए हैं! क्या सचमुच मैं बुद्धकाल में जनमा हूं! इस चिंतन मात्र से उसके मन में प्रसन्नता का एक प्रबल प्रवाह फूट पड़ा। और फिर जब आगे,

"इतिपि सो भगवा... आदि" इन शब्दों में भगवान के गुणों का वाचन किया तो पढ़ते-पढ़ते शरीर के ११ हजार रोमकूप उत्थापित हो उठे। सारा मानस पुलकित हो गया। सारा शरीर रोमांचित हो गया। कुछ देर इसी प्रसन्नताविभोर अवस्था में सुध-बुध खोये रहा। यह भी होश न रहा कि मैं बैठा हूं या खड़ा हूं। आगे की पंक्तियां पढ़ ही न सका। यों भावविभोर अवस्था में बहुत-सा समय बीत जाने के बाद जब भावावेश कुछ कम हुआ तो आगे पढ़ना शुरू किया। आगे शुद्ध धर्म के गुणों की व्याख्या थी।

"स्वाक्खातो भगवता धम्मो... आदि" पढ़ते-पढ़ते फिर तन-मन उसी प्रकार पुलकन-सिहरन से भर उठे। फिर तीव्र भावावेश जागा। फिर कुछ देर तक सुध-बुध खोये रहा। कुछ समय बाद मन शांत हुआ तो आगे संघ के गुणों की पंक्तियां पढ़ीं–

"सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसङ्घो... आदि" तो फिर वही दशा हुई। तदनंतर पत्र के चतुर्थ भाग को पढ़ने लगा तो उसमें आनापान साधना का विवरण था, जिसे पढ़ते-पढ़ते चित्त और शरीर में आनंद की ऐसी धाराप्रवाह अनुभूति होने लगी कि सहज ही चित्त एकाग्र हो गया। समाधिस्थ हो गया। अनेक जन्मों की पुण्य-पारमिताओं का संग्रह था, अतः चित्त तत्काल प्रथम

ध्यान समापत्ति में समाहित हो, अल्पकाल में ही प्रथम से द्वितीय, द्वितीय से तृतीय और तृतीय से चतुर्थ ध्यान समापत्ति में गहनतापूर्वक समाधिस्थ हुआ। बाहरी आलंबनों का जरा भी भान नहीं रहा। यह अवस्था देर तक चली। यद्यपि अभी विपश्यना की ऊंची अवस्थाएं नहीं प्राप्त हुई थीं, परंतु चौथी ध्यान-समापत्ति का धर्म-रस ही इतना अपूर्व था कि बार-बार उसी के अभ्यास में लगा रहा और उसके रसास्वादन में दो सप्ताह बिता दिये।

कक्ष के द्वार पर पहरेदार बैठा था। केवल एक व्यक्तिगत सहायक के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रवेश निषिद्ध था। १५ दिनों तक देश का राजा न राजमहल के रनिवास में गया और न राजदरबार में, न न्यायालय में और न ही सेनालय में। राज्य के प्रमुख लोगों को चिंता होने लगी कि हमारे राजा को ऐसा क्या उपहार मिला है, जिससे कि वह इस प्रकार वशीभूत हो गया है?

चतुर्थ ध्यान समापत्ति के शांति-रस की स्वानुभूति से प्रभावित हुए राजा पुक्कुसाति को अपने मित्र के अंतिम बोल याद आये। सचमुच मुझे राज्य त्याग कर तुरंत अभिनिष्क्रमण कर देना चाहिए। मेरा सद्भाग्य है कि इसी समय देश में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं। उनके सान्निध्य में रह कर भवभ्रमण के दुःखों से सर्वथा विमुक्त कर देने वाली विपश्यना-विद्या सीख कर मुझे अपना मनुष्य-जीवन सार्थक कर लेना चाहिए। न जाने जीवन थोड़ा ही बचा हो। महान उपकार है मेरे मित्र का, जिसने मुझे ऐसी कल्याणी सूचना भिजवायी।

यों जीवन्मुक्त अरहंत होने के उद्देश्य से भगवान बुद्ध के बताए मार्ग पर चलने के लिए राजपाट, घरबार त्यागने का दृढ़ निश्चय किया। अपने हाथों कृपाण से शीश और दाढ़ी-मूंछ के केश काटे और सहायक से दो काषाय वस्त्र मँगवाये। एक को अधोवस्त्र बना कर पहना, दूसरे को ऊर्ध्व वस्त्र बना कर ओढ़ा। मिट्टी का एक भिक्षा-पात्र और लकड़ी का एक दंड भी मँगवाया। इन्हें हाथ में ले कर महल के नीचे उतर आया।

राजपरिवार के लोग उसे इस वेष में नहीं पहचान पाये। समझा कोई संन्यासी राजा से मिलने आया होगा और अब लौट रहा होगा। राजदरबार के राजपुरुष भी उसे नहीं पहचान पाये। परंतु जब निजी सहायक ने सारी स्थिति स्पष्ट की तो रनिवास और दरबार में कुहराम मच गया। दावानल की भांति यह सूचना सारे नगर में फैल गयी। पुक्कुसाति जैसे प्रजावत्सल राजा के राज्यत्याग की सूचना ने सारी प्रजा को दुःखसागर में डुबो दिया। प्रजा पर अनभ्र वज्रपात हुआ। शोक-निमग्न रोते-बिलखते हुए नगरनिवासी, राज्य के शासनाधिकारी

और राजपरिवार के लोग भिक्षु वेशधारी पुक्कुसाति के पीछे हो लिये। लोगों ने क्रंदन करते हुए कहा – महाराज, आपके बिना हम अनाथ हो जायेंगे।

पुक्कुसाति ने सान्त्वना-भरे शब्दों में कहा – यहां अनेक योग्य व्यक्ति हैं जो मेरी अनुपस्थिति में राज्य-प्रशासन के दायित्व को अत्यंत कुशलतापूर्वक निबाहेंगे।

मंत्रियों ने उसे समझाने की चेष्टा की – महाराज, मध्यदेश के राजा बड़े मायावी होते हैं। कुटिल होते हैं। उनकी कूटनीति, छल-छद्म से परिपूर्ण होती है। कौन जाने लोक में सम्यक संबुद्ध उत्पन्न हुए भी हैं या नहीं? हो सकता है कि यह सब प्रवंचना हो। आप को राज्यच्युत करवा कर गंधार देश को दुर्बल बना देना चाहता हो, ताकि समय पा कर उसे हड़प ले।"

नहीं, मंत्रियो, मेरे परम मित्र के प्रति ऐसा शक-संदेह न करो। मगध का राज्य गंधार देश से बहुत दूर है। बीच में कोशल, कौशांबी, चेदिय, पांचाल, कुरु जैसे शक्ति-संपन्न जनपद हैं। उनका अतिक्रमण करके गंधार देश को हथिया लेना असंभव है। यह अनदेखा मित्र, मेरा परम हितैषी है। जानता है कि भगवान मगध देश में विहार कर रहे हैं। अतः वह स्वयं गृहस्थ रहते हुए भी उनके सान्निध्य का दीर्घकालीन लाभ ले सकता है। परंतु भगवान मध्यदेश छोड़ कर इतनी दूर विहार करने आयेंगे नहीं। अतः मैं उनके सान्निध्य से वंचित रह जाऊंगा। इसीलिए उसने मुझे गृह त्याग कर उनके समीप रहने के लिए प्रोत्साहित किया है। मंत्रियो, मेरे मित्र के प्रति मिथ्या संदेह कर दोष के भागी न बनो। वह मेरा कल्याण चाहने वाला सन्मित्र है।

बुद्धुप्पादो दुल्लभो लोकस्मिं; राज अमात्यो, संसार में बुद्ध का उत्पन्न होना सचमुच दुर्लभ है। मेरे और मेरे जैसे अनेकों के सौभाग्य से यह दुर्लभता सुलभ हुई है। मुझे उनकी शरण जाने दो। अनेक जन्मों में मुक्ति की खोज में मैं व्यर्थ भटका हूं। अब इसे प्राप्त करने का सुअवसर आया है। मुझे इस लाभ से वंचित करने का वृथा प्रयत्न मत करो।

यों बहुत प्रकार से समझाने पर भी लोगों ने नहीं माना। रोते-बिलखते, उसके पीछे चलते ही गये। तब पुक्कुसाति ने दृढ़ता का कदम उठाया। उसने अपने दंड से मार्ग पर एक रेखा खींच दी और कहा – मैंने गृही जीवन का त्याग कर दिया है। परंतु अब भी तुम मुझे अपना राजा मानते हो तो सुनो, यह राजाज्ञा है। कोई इस सीमा का उल्लंघन न करे।

लोग राजा पुक्कुसाति के इस दृढ़ निश्चय को देख कर हताश हुए और राजाज्ञा को नमस्कार कर, रोते-बिलखते नगर लौट गये। गृहत्यागी श्रमण पुक्कुसाति गंधार से मगध की ओर जाने वाले महापंथ पर पैदल चल पड़ा।

तक्षशिला से राजगृह का रास्ता बहुत लंबा था। पर भूतपूर्व गंधार नरेश अब एक सामान्य भिक्षु के रूप में सुदृढ़ निश्चय और सबल कदमों से चला जा रहा था।– "भगवान बुद्ध अपने हाथों अपने केश काट कर काषाय वस्त्र धारण करके चले, तो अकेले ही सत्यान्वेषण की चारिका पर निकले थे। मुझे उन्हीं के चरण-चिह्नों पर चलना है। मैं भी अकेला विचरण करूंगा। उन्होंने पांव में पनही भी नहीं पहनी थी। मैं भी नंगे पांव यात्रा करूंगा। उन्होंने किसी वाहन का प्रयोग नहीं किया था। मैं भी किसी वाहन का प्रयोग नहीं करूंगा। उन्होंने सिर पर पत्तों के छाते का भी प्रयोग नहीं किया था। मैं भी खुले सिर ही यात्रा करूंगा। उन्होंने बिना मांगे जो मिले, उसी से यात्रा की थी। मैं भी अदिन्नादान से विरत रह कर यात्रा करूंगा। दातून के लिए किसी पेड़ की डाली भी स्वयं नहीं तोड़ूंगा। किसी जलाशय से मुँह धोने के लिए पानी भी स्वयं नहीं ग्रहण करूंगा। कोई न दे तो भोजन भी नहीं ग्रहण करूंगा।"

इन दृढ़ व्रतों का अटूट संकल्प धारण कर भिक्षु पुक्कुसाति कदम-कदम आगे बढ़ने लगा। तक्षशिला से राजगृह की यात्रा लंबी ही नहीं, दुर्गम भी है। राजमहलों की सुख-सुविधा और वैभव-विलास में जनमा-पला पुक्कुसाति खुरदरी कड़ी धरती पर नंगे पांव चल रहा है। पांव में छाले पड़ गये हैं। चलते-चलते छाले फूट गये हैं। घावों में पीब पड़ गयी है। पीप बहने लगी है। पैदल चलने का श्रम तो है ही। इन फोड़ों और फफोलों की पीड़ा भी कम तीव्र नहीं है।

आगे-आगे व्यापारियों का एक कारवां चल रहा है। पीछे-पीछे पुक्कुसाति दृढ़ कदमों से पैदल चल रहा है। सामने चल रही सैकड़ों बैलगाड़ियों पर क्रय-विक्रय का सामान लदा है। साथ-साथ कुछ-एक आलीशान रथ-नुमा बैलगाड़ियां चल रही हैं, जो कारवां के मालिक साहूकारों के सोने-बैठने और आराम करने के लिए हैं। इनमें झालर वाले आरामदेह मोटे गद्दे, तकिये और मसनद लगे हैं। एक-एक गाड़ी को दो-दो श्वेतवर्णी स्थूलोदर विशाल वृषभ खींच रहे हैं। इनके पेट की लटकन धरती को छूती-सी लगती है। बड़े-बड़े सींग वाले, सुंदर चेहरे हैं इनके। सींगों को नयनाभिराम रंगों से रँगा है। गले में एक-एक घंटी बँधी है। प्रत्येक बैल की पीठ पर खूबसूरत कसीदे की कढ़ाई की

हुई रंग-बिरंगी खोल लगी है, जिसमें नन्हीं-नन्हीं घंटियों की झालर झूल रही है। गाड़ी के चक्कों के आरों पर घुंघरू बँधे हैं। प्रत्येक रथ पर जुते हुए दोनों बैल एक साथ अपना सिर हिलाते और झूमते हुए गाड़ी खींचते हैं तो इन घंटे-घंटियों और घुँघरुओं का समवेत स्वर पैदा होता है। यह रुनझुन स्वर बड़ा चित्ताकर्षक है, परंतु पीछे-पीछे चलते भिक्षु का ध्यान इन पर नहीं जाता। वह नजर नीची किये हुए अपनी श्रमसाध्य यात्रा पैदल पूरी कर रहा है।

सूर्यास्त होने पर कारवां कहीं रुकता है। मालिकों के लिए खूबसूरत आरामदेह, अन्यों के लिए साधारण तंबू तान दिये जाते हैं, जिनमें वे रात्रि-विश्राम करते हैं। परंतु भिक्षु उनके समीप भी नहीं जाता। कुछ दूरी पर किसी पेड़ के नीचे पालथी मार कर बैठ जाता है। न घाव भरे पांव धोने के लिए पानी है। न दुखती पीठ सहलाने का कोई साधन है। परंतु आनापान का ध्यान करते हुए शीघ्र ही उपचार से अर्पणा समाधि की ओर बढ़ कर पहले से चौथे ध्यान की समापत्ति में समाहित हो जाता है। रात भर ध्यान में लीन रह कर शरीर की सारी हरारत, थकावट दूर कर लेता है। दूसरे दिन तरोताजा हो, यात्रा के लिए फिर तैयार हो जाता है।

कारवां के लोग सुबह-सुबह का नाश्ता कर चुकने पर बचा-खुचा भोजन तथा कुछ जूठन भिक्षु के भिक्षापात्र में डाल देते हैं। भोजन कभी अध-पका होता है, कभी बहुत पका। कभी रूखा होता है, कभी गीला। कभी अलोना होता है, कभी बहुलोना। गृहत्यागी राजसी भिक्षु के भिक्षा पात्र में जो पड़ जाय, उसे ही अमृत-सदृश स्वादिष्ट मान कर सहर्ष ग्रहण कर लेता है और उसी एकाहार से दिन भर की यात्रा करता है।

कारवां के श्रेष्ठियों को यदि मालूम हो जाय कि यह जो फटेहाल भिखारी पीछे-पीछे चल रहा है, वह स्वयं गंधारनरेश पुक्कुसाति है, जिसकी कृपा से हमें तक्षशिला में आयात-चुंगी की छूट मिली और हमारा मुनाफा कई गुना बढ़ा, तो श्रद्धा और कृतज्ञता से विभोर हो कर उसके लिए यात्रा की वह सारी सुविधाएं कर देते, जो कि उन्हें अपने लिए उपलब्ध थीं। परंतु पुक्कुसाति को यह अभीष्ट नहीं था। उसे एक श्रमण का श्रमसाध्य जीवन श्रेष्ठतर दिखता था। इस कष्ट में उसे अतीव मानसिक तुष्टि और प्रसन्नता मिलती थी। इसी प्रसन्नता में उसने लगभग १९२ योजन की लंबी यात्रा पूरी की।

रास्ते में कारवां श्रावस्ती नगर में से होकर गुजरा। नगर के बाहर निकलने पर जेतवन विहार के सामने से गुजरा। पुक्कुसाति ने सुना यह बुद्ध का विहार है। परंतु उसने सोचा अनेक लोग बुद्ध होने का दावा करते हैं। मुझे उनसे सरोकार नहीं। मेरे कल्याणमित्र बिंबिसार ने जिन भगवान गौतमबुद्ध के बारे में लिखा है, मेरे लिए तो वही बुद्ध हैं और वह तो मगधदेशीय राजनगरी राजगृह में मिलेंगे। इसी विचार से उत्साहित हो, उसने श्रावस्ती से राजगृह की पैंतालीस योजन की यात्रा पूरी की।

जब राजगृह पहुँचा तो सूरज ढल चुका था और राज्य के कठोर नियमानुसार नगरद्वार बंद कर दिये गये थे। प्रातः-पूर्व किसी के लिए नहीं खुल सकते थे। अतः उसने राजनगर के बाहर विश्राम करने का निर्णय किया। वहीं यह सूचना मिली कि जिन भगवान सम्यक संबुद्ध से मिलने यहां आया है, वह इस समय श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे हैं। अतः उसने निर्णय किया कि एक रात यहीं बिता कर कल भगवान के दर्शन के लिए पुनः वापसी यात्रा पर निकल पड़ेगा।

३. पुक्कुसाति कथा

(ग) हुई मित्रता फलवती

नगर के बाहर भार्गव कुंभकार (कुम्हार) का एक छोटा-सा मकान। कुंभकार को बर्तन, भांडे बनाने के लिए बहुत-सी मिट्टी की आवश्यकता होती है, अतः नगर के बाहर जहां ऐसी सुविधा हो, वहीं उसका निवास होना स्वाभाविक है। हम नहीं जानते कि भार्गव इस कुंभकार का नाम है अथवा गोत्र, जिसके कारण वह इस संबोधन से पुकारा जाता है। हो सकता है जैसे आज कुंभकार को प्रजापति के नाम से पुकारते हैं, उसी प्रकार उन दिनों भार्गव नाम से पुकारते हों; क्योंकि पुरातन साहित्य में हमें एक से अधिक भार्गव कुंभकारों के उल्लेख मिलते हैं।

जो भी हो, यह भार्गव कुम्हार अत्यंत श्रद्धालु है। साधु-संतों की सेवा-टहल और सत्संग में रुचि रखता है। उनकी सुख-सुविधा के लिए अपने घर के समीप एक विश्रामशाला बना रखी है, जो कि कुंभकारशाला के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें यात्री साधु-संन्यासी, एक दो दिन के लिए टिकते रहते हैं। कभी भगवान बुद्ध और कभी सारिपुत्त आदि, उनके शिष्य भी रैनबसेरे के लिए इस कुंभकार की विश्रामशाला में रुके हैं। आज भी भगवान बुद्ध सूरज ढलने के बाद इस कुंभकार के पास आये हैं और उससे पूछते हैं – "भार्गव कुंभकार, मैं तुम्हारी अतिथिशाला में रात बिताऊं? तुम्हें बोझ तो नहीं लगेगा?"

"नहीं, भंते भगवान, मेरे लिए तो यह असीम पुण्य की बात होगी। कुंभकारशाला का कक्ष बहुत बड़ा है। उसमें एक साथ एक से अधिक लोग आराम से टिक सकते हैं। परंतु अभी कुछ देर पहले मैंने एक श्रमण को वहां टिकने की अनुमति दे दी है। उसे पूछ लें। उसे एतराज़ न हो तो भगवान सुखपूर्वक रहें।"

भगवान कुंभकारशाला में गये। देखा, वहां फटे चीवर पहने एक श्रमण बैठा है। गौर वर्ण है, उन्नत ललाट है, बड़ी आंखें हैं, लंबी नाक है। सिर और मूंछ-दाढ़ी के कटे हुए बाल दो-दो अंगुल बढ़े हुए हैं। योद्धाओं का-सा चौड़ा सीना है। सबल सुडौल हाथ-पांव हैं। सब मिला कर बड़ा भव्य व्यक्तित्त्व है।

भगवान उसे देख कर मुस्कराये। उन्होंने पूछा, "भिक्षु, इस कक्ष में मैं तुम्हारे साथ एक रात गुजार लूं? तुम्हें बोझ तो नहीं लगेगा?"

"नहीं, आयुष्मान, जरा भी नहीं। कुंभकारशाला का यह कक्ष बहुत बड़ा है। बड़ी खुशी से यहां रात बिताओ। मुझे तो पालथी मार कर बैठने भर का स्थान चाहिए। तुम यहां यथासुख रहो।"

तृण का आसन बिछा कर भगवान एक ओर बैठ गये और ध्यान-मग्न हो गये। पूर्वागत भिक्षु भी ध्यान में बैठ गया और शीघ्र ही चौथी ध्यान-समापत्ति में समाधिस्थ हो गया।

शनैः शनैः रात बीतती गयी। रात्रि का प्रथम याम बीता, द्वितीय याम बीता, अब तीसरा बीत रहा था। पूर्णिमा थी। आकाश सारी रात चंद्रप्रभा से प्रभासित रहा। धरती के आंगन पर चांदनी छिटकी रही। खुली खिड़कियों से चांदनी का प्रकाश कक्ष में भी प्रवेश पा रहा था। भगवान बुद्ध और भिक्षु को चंद्र-किरणें स्पर्श कर रही थीं। भगवान तो बोधिरश्मि से स्वयं प्रभास्वर थे ही, भिक्षु का चेहरा भी ध्यान-समापत्ति की प्रभा से प्रदीप्त था। चांद की शुभ्र ज्योत्सना उन दोनों के चेहरों को और अधिक उजला कर रही थी। भिक्षु देर तक बिना हिले-डुले अधिष्ठान आसन में बैठा रहा। तीसरे याम के दौरान उसने आंखें खोलीं। भगवान ने उसकी ओर देखा और मुस्कुराये। उन्होंने पूछा,

– "भिक्षु, तुम किस पर आश्रित हो कर गृहत्यागी हुए हो? कौन तुम्हारा शास्ता है, आचार्य है? किसके द्वारा उपदेशित धर्म तुम्हें रुचिकर है?"

भिक्षु ने उत्तर दिया,

– "आयुष्मान लोक में सम्यक संबुद्ध उत्पन्न हुए हैं, जिनकी कीर्ति चारों ओर फैली है। मैं उन्हीं शाक्यमुनि भगवान गौतम बुद्ध का आश्रय ले कर घर से बेघर हुआ हूं। वही मेरे शास्ता हैं। उन्हीं का उपदेशित धर्म मुझे रुचिकर लगता है।"

भगवान फिर मुस्कराये। उन्होंने पूछा,

– "भिक्षु, क्या तुमने अपने शास्ता को कभी देखा है? या देख लो तो पहचान पाओगे?"

"नहीं, आयुष्मान! नहीं पहचान पाऊंगा। मैंने उन्हें कभी नहीं देखा।"

"इस समय तुम्हारे शास्ता कहां हैं?"

"यहां आने पर पता चला कि वे श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे हैं। रास्ते में मैं जेतवन विहार के सामने से गुजरा, पर तब तो समझता था कि उन्हें मगध में संबोधि मिली है, अतः मगध में ही विहार कर रहे हैं। अब उनसे मिलने के लिए पुनः पैंतालीस योजन श्रावस्ती की ओर लौटना होगा।"

भगवान फिर मुस्कराये। उन्होंने अपने बोधिचित्त से देखा कि भिक्षु का आयुष्य बहुत थोड़ा बचा है। सूर्योदय के कुछ समय बाद उसकी शरीर-च्युति हो जायगी। मेरे निमित्त ही यह प्रव्रजित हुआ है। बहुत योग्य पात्र है। अनेक जन्मों की पुण्य पारमिताओं का धनी है। विपश्यना सिखायी जाय तो अभी विमुक्ति की ऊंची अवस्थाएं प्राप्त कर लेगा। अतः उन्होंने बड़े करुण चित्त से कहा,

– "तो भिक्षु ध्यान लगा कर सुनो! मैं तुझे धर्म देशना देता हूं।"

ऐसा आकर्षण था भगवान की करुणासिक्त वाणी में कि भिक्षु ना न कर सका। उसने कहा, "बहुत ठीक आयुष्मान!" और दत्तचित्त हो कर उनकी कल्याणी वाणी सुनने लगा।

पूर्व जन्मों के अभ्यास के कारण स्वर्णपत्र पर आनापान की साधना का वर्णन मात्र पढ़ कर वह स्वतः चौथी ध्यान-समापत्ति की अनुभूति तक पहुँच चुका था। भगवान ने अब उसे धातुओं के विभंग को समझाते हुए विपश्यना की गहराइयों में उतारा।

पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश– ये पांच भौतिक तत्त्व हैं और विज्ञान, यह एक मानसिक तत्त्व। इन छह तत्त्वों का समुच्चय ही मनुष्य है। इन छहों को विभाजित करके, इनकी धातु यानी इनके धर्म-स्वभाव को अनुभूतियों के स्तर पर जान लेना धातु विभंग है। इन छह तत्त्वों के अतिरिक्त आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और विज्ञान (मानस) की छह इंद्रियां और इनके अपने-अपने विषयों के संस्पर्श से उत्पन्न होने वाली सुखद-दुखद अथवा असुखद-अदुखद संवेदनाओं की अठारह प्रकार की अनुभूतियों में विचरण करते रहने वाले स्वभाव को विभाजित कर-करके देख लेना, इन्हें **मैं, मेरा** और **मेरी आत्मा** न मान कर मिथ्या अहं की भ्रम-भ्रांतिजनक मरीचिका से मुक्त होना, मिथ्या मान्यताओं की गुलामी से छुटकारा पाना, यही विपश्यना की विभंग साधना है। इस साधना द्वारा निरंतर अनित्यबोधिनी संप्रज्ञा में सतत अधिष्ठित रहना यानी स्थितप्रज्ञ बने रहना, इंद्रिय जगत के अनित्य और इंद्रियातीत के नित्य स्वभाव वाली सच्चाइयों को स्वानुभूति से जान कर सत्य में

सतत अधिष्ठित रहना, मिथ्या अहंभाव से उत्पन्न राग-द्वेष और मोह जैसे विकारों के त्याग में सतत अधिष्ठित रहना और विकारविमुक्ति द्वारा प्राप्त चित्त की शांति में अधिष्ठित रहना, यही धातुविभंग उपदेश के चार प्रमुख उद्देश्य हैं।

भगवान जैसे-जैसे इस उपदेश की बारीकियों को समझाते गये, वैसे-वैसे पुक्कुसाति लोकिय ध्यान को संप्रज्ञान के साथ जोड़ कर लोकोत्तर ध्यानों में बदलता गया और अब उसकी समाधि केवल ध्यान-समापत्तियों तक ही सीमित नहीं रही। संप्रज्ञान की विपश्यना द्वारा अधोगति के सम्पूर्ण संस्कारों का क्षय करके उसने पहले स्रोतापत्ति की निवार्णिक फल-समापत्ति को अनुभूति पर उतारा और तदनंतर सकदागामी की फल-समापत्ति को।

भगवान समझाये जा रहे थे और साथ-साथ मैत्रीधातु, धर्मधातु और निर्वाणधातु से सारे वातावरण को आप्लावित किये जा रहे थे। श्रद्धालु पुक्कुसाति केवल सुनता ही नहीं जा रहा था, भीतर ही भीतर विपश्यना प्रज्ञा द्वारा घनीभूत सच्चाइयों का छेदन-भेदन करता हुआ बाकी बचे कर्मसंस्कारों का उच्छेदन भी करता जा रहा था।

रजनीकांत निशाकर अपनी रजत-रश्मियां समेटता हुआ पश्चिमी क्षितिज की ओर अस्त हो रहा था। भुवन-भास्कर अपनी स्वर्ण-रश्मियों को विकीर्ण करता हुआ पूर्वी क्षितिज से उदय हो रहा था। इसी समय पुक्कुसाति भगवान की महाकारुणिक धर्मतरंगों का संबल प्राप्त करता हुआ, विपश्यना की सूक्ष्म गहराइयों की ओर अग्रसर हो रहा था। एकाएक उसे चौथे ध्यान की समापत्ति के साथ-साथ प्रथम निरोध समापत्ति की निर्वाणिक अनुभूति हुई। वह अनागामी-फल लाभी हुआ।

इस निरोधसमापत्ति से उठा तो कृतज्ञता विभोर हो गया। ऐसी मुक्तिदायिनी विपश्यना भगवान बुद्ध के अतिरिक्त और कोई नहीं सिखा सकता। अवश्य यह भगवान बुद्ध ही हैं। यह विचार मन में आते ही उसके मुँह से हर्ष के उद्गार निकल पड़े।

"अहो! मैंने अपना शास्ता पा लिया, सुगत पा लिया, सम्यक संबुद्ध पा लिया।" यह कहते हुए पुक्कुसाति ने अपना सिर भगवान के चरणों में झुका दिया। फिर दाहिने कंधे को खुला छोड़ कर अपने उत्तरासंग को यानी ऊर्ध्व वस्त्र को बाएं कंधे पर रखते हुए (यह उन दिनों का सम्मान प्रदर्शन था), हाथ जोड़ कर बोला –

"भंते भगवान! अनजाने में मुझसे बहुत बड़ा अपराध हुआ। मैं अपनी अज्ञान अवस्था में, मूढ़ अवस्था में आपको पहचान नहीं पाया, इसलिए आपको आयुष्मान शब्द से संबोधित करके मैंने अत्यंत अकुशल कर्म किया। (पद अथवा उम्र में अपने से छोटों के लिए आयुष्मान शब्द प्रयुक्त हुआ करता था।) भगवान मेरे इस अपराध को क्षमा करें। भविष्य में मुझसे ऐसी भूल नहीं होगी।"

"भिक्षु, अनजाने में की हुई अपनी भूल तुमने स्वीकारी है। इसका उचित प्रतिकार किया है। आर्य धर्म-विनय में यह प्रगति का लक्षण है, जबकि कोई अपनी भूल स्वीकारता है, उसका प्रतिकार करता है और भविष्य में न करने का संकल्प करता है।"

"भगवान, मुझे आप से उपसंपदा मिले।"

"भिक्षु, क्या तुम्हारे पास परिपूर्ण पात्र-चीवर हैं?"

"नहीं भंते, परिपूर्ण नहीं हैं।"

"भिक्षु, अपूर्ण पात्र-चीवर वाले को तथागत उपसंपदा नहीं देते।"

तब आयुष्मान पुक्कुसाति भगवान के वचन का अभिनंदन कर, आसन से उठा और उनका अभिवादन कर, उनकी प्रदक्षिणा की और पात्र-चीवर की खोज में नगर की ओर चल पड़ा।

सूर्योदय होते ही नगरद्वार खुले। नगर के कुछ एक नागरिक और भिक्षु बाहर आये तो भार्गव कुम्हार की अतिथिशाला में अप्रत्याशित रूप से भगवान को बैठे देखा। उन्होंने भगवान का सादर अभिवादन किया। कुछ लोग दौड़े हुए महाराज बिंबिसार के पास पहुँचे। वह भी शीघ्रतापूर्वक भगवान की सेवा में आ गया। भगवान को पंचांग प्रणाम कर भार्गव कुम्हार की अतिथिशाला में बैठ गया।

इतने में सूचना आयी कि पात्र-चीवर की खोज में निकला हुआ भिक्षु एक दुर्घटना में मृत्यु को प्राप्त हो गया है।

भगवान ने बताया कि यह व्यक्ति गंधारनरेश था, जो कि अपने मित्र का धर्मसंदेश पाकर, राजपाट त्याग कर प्रव्रजित होने मगध चला आया था। पुक्कुसाति समझदार था। वह परम सत्यान्वेषी था। शुद्ध धर्म को जैसे-जैसे सुनता गया, वैसे-वैसे स्थूल से सूक्ष्म सत्यों की ओर अग्रसर होता हुआ, मुक्ति की ओर बढ़ता चला गया। धर्म को समझने और धारण करने में उसमें कोई

हेठी नहीं दिखायी दी। कोई अड़ियलपन नहीं दिखायी दिया। आज की रात ही उसने विपश्यना साधना द्वारा अनागामी फल प्राप्त किया, जिससे उसके सारे अवरभागीय संयोजन-बंधन टूट गये। अब वह ओपपातिक ब्रह्मलोक में जन्मा है। वहां विपश्यना करते हुए अरहत फल प्राप्त कर लेगा और वहीं शरीर त्यागने पर परिनिर्वाणलाभी हो कर समस्त लोकों के भवभ्रमण से सर्वथा विमुक्त हो जायगा।

बिंबिसार अपने अनदेखे मित्र की मृत्यु के संवाद से दुःखी तो हुआ, पर शीघ्र ही उसका यह दुःख मोद में पलट गया, जबकि उसने यह सुना कि उसका मित्र अनागामी फल प्राप्त कर मृत्यु को प्राप्त हुआ है। उसे लगा कि उसका धर्म-संदेश बहुत ही योग्य व्यक्ति तक पहुँचा और वह भगवान के और विपश्यना के संपर्क में आ कर यथोचित लाभान्वित हुआ।

बिंबिसार ने भगवान की वाणी सुन कर प्रसन्नता व्यक्त की और तीन बार 'साधु, साधु, साधु' कह कर उनके चरणों में नमन किया।

सचमुच उसकी धर्म-मैत्री सफल हुई, सार्थक हुई। उसके मित्र का मंगल हुआ, कल्याण हुआ। ऐसा मंगल-कल्याण सब का हो।

सार्थक जीवन

सार्थक जीवन

१. देखने में केवल देखना

१. देखने में केवल देखना

मुंबई महानगरी से लगभग पचास मील दूर पश्चिम रेलवे पर एक छोटा-सा स्टेशन है – नल्ला। समीप ही समुद्र के किनारे एक छोटा-सा गांव है – सुप्पारा। दो हजार पांच सौ वर्ष पूर्व के भारत का यह अत्यंत प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण बंदरगाह था। उस युग की मुंबई। नाम था सुप्पारक पत्तन। पत्तन कहते थे बंदरगाह को।

उन दिनों इस सुप्पारक महानगरी में एक अत्यंत वृद्ध संन्यासी रहता था। सिर पर सन से सफेद बालों की जटा, चेहरे पर वैसी ही लंबी दाढ़ी और मूंछ, कृश शरीर पर वल्कल वस्त्र, सब मिला कर बड़ा भव्य व्यक्तित्व था उस संन्यासी का। विपुल जनसंख्या वाली उस महानगरी के अनेक धनीमानी लोग संन्यासी के श्रद्धालु भक्त थे। सैकड़ों की संख्या में नित्य दर्शन करने आते, चरणों की धूलि सिर पर चढ़ाते, पर्याप्त दान-दक्षिणा, भरपूर खाद्य सामग्री और दवादारू अर्पित कर अपने आपको धन्य मानते। भक्तों द्वारा गायी गयी महिमा ने संन्यासी के मन में यह विश्वास पैदा कर दिया कि वह अवश्य ही अरहंत अवस्था को प्राप्त हो गया है; जीवन्मुक्त हो भवबंधनों से छूट गया है।

परंतु एक दिन किसी हितैषी ने बड़े प्यार से उसे समझाया कि वह अभी अरहंत नहीं हुआ है और न ही अरहंत होने के मार्ग पर आरूढ़ है। संन्यासी को सदमा लगा। पर वह समझदार था। आत्म चिंतन करने पर यह समझते देर नहीं लगी कि जबतक चित्तधारा पर विकारों का प्रवाह जारी है तब तक कोई अरहंत कैसे हो सकता है? जीवन्मुक्त कैसे हो सकता है? उसने स्वयं महसूस किया कि एकाग्रता के अभ्यास के बावजूद उसकी चित्तधारा सर्वथा विकार-शून्य नहीं हुई है।

उसने उत्सुकतावश प्रश्न किया, "क्या इस जगत में कोई ऐसा व्यक्ति है भी जिसकी चित्तधारा विकारों से पूर्णतया मुक्त हो गयी हो? जो अरहंत हो गया हो?"

उत्तर मिला – "हां, अवश्य है। उत्तर भारत में राजनगरी कपिलवस्तु का शाक्य राजकुमार सिद्धार्थ गौतम घर से बेघर हो, परम सत्य की खोज में निकल पड़ा और वर्षों की खोज के पश्चात चित्त को समस्त विकारों से विहीन करने की विधि उसने स्वयं खोज निकाली और अभ्यास कर अरहंत अवस्था प्राप्त कर

ली। वह सम्यक रूपेण स्वयं बुद्ध है। इस समय वे भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे हैं। जिस विधि से उन्हें मुक्ति मिली, उसे वे अत्यंत करुण चित्त से, बिना किसी भेदभाव के, सब को सिखाते हैं।"

संन्यासी ने यह सुना तो मन में विचारों का एक आंदोलन उठ खड़ा हुआ। मुझे भी घर से बेघर हुए वर्षों बीत गये। संन्यास इसीलिए धारण किया था कि सारे बंधनों से छूट कर नितांत विमुक्त हो जाऊं। परंतु देखता हूं, ऐसा तो नहीं ही हुआ। यह बाहरी वेशभूषा, कर्मकांड और त्याग-तप की व्रतचर्या ने इन बाहरी लोगों को ही आकर्षित किया है, जिसके परिणामस्वरूप इतना मान-सम्मान, गौरव-गरिमा, पूजा-प्रतिष्ठा और दान-दक्षिणा प्राप्त हो रही है। पर इन बेचारों को क्या पता कि मेरे चित्त की वास्तविक अवस्था क्या है? ये तो मेरा बाह्य चारित्र्य ही देखते हैं। परंतु मुझे इस झूठे मान-सम्मान से क्या लेना देना! जिस लक्ष्य के लिए घरबार छोड़ा, वह तो अनुपलब्ध ही रहा। चित्त परम विशुद्ध विमुक्त कहां हुआ? चित्त-विशुद्धि की साधना मानव जीवन में ही शक्य है और मेरी यह वृद्ध अवस्था। मैंने अपने अनमोल जीवन का कितना भाग व्यर्थ खो दिया। उसे लगा, शेष जीवन बहुत ही अल्प रह गया है।

मन में निराशा छा गयी। इतने थोड़े समय में अब क्या हो सकता है! तभी उसके मन में अभी-अभी सुने शब्द गूंजने लगे कि "जिस विधि से उन्हें स्वयं मुक्ति मिली, उसे भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध अत्यंत करुणचित्त से, बिना किसी भेदभाव के, सब को सिखाते हैं।"

इससे उसके मुरझाये मन में एक नया जीवन जाग उठा। जीर्ण-शीर्ण शरीर में युवकों की-सी बलवती स्फूर्ति उमड़ पड़ी और वह तत्काल चल पड़ा – श्रावस्ती की ओर। कहां सुदूर पश्चिमी तट के अपरांत प्रदेश की राजधानी सुप्पारक और कहां उत्तर में हिमालय के चरणों में स्थित कोशल प्रदेश की राजधानी श्रावस्ती। कितना लंबा रास्ता, भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध के दर्शन और उनसे चित्त-विशोधन की विद्या सीखने की धर्म-अभिलाषा ने संन्यासी के मन में ऐसा अदम्य उत्साह भर दिया कि जिससे इस लंबी यात्रा का श्रम उसे श्रम जैसा नहीं लगा। इसीलिए सारी यात्रा भर केवल एक ही रात पूरा विश्राम कर सकने पर भी जब श्रावस्ती पहुँचा तो थकान महसूस नहीं हो रही थी।

यह है श्रावस्ती का जेतवन विहार। लेकिन यहां पहुँचने पर विहार-वासियों ने बताया कि भगवान तो इस समय भिक्षाटन के लिए शहर की ओर गये हुए हैं। उन्होंने संन्यासी से कहा कि वह कुछ देर विहार में विश्राम कर ले। तब तक भगवान लौट आयेंगे।

परंतु धर्म-संवेग-प्राप्त परिव्राजक को विश्राम कहां? उसने राजनगरी श्रावस्ती की ओर शीघ्रता से कदम बढ़ाये। कुछ दूर चलने पर भगवान सम्यक संबुद्ध को राजपथ पर भिक्षाटन के लिए जाते हुए देखा और अपलक, अवाक देखता ही रह गया। कैसा महान मंगल विधायक व्यक्तित्व। धीर गंभीर सौम्य शांत मुखमुद्रा, करुणा-विगलित नयन, शरीर के अंग-अंग में प्रस्फुटित संयम और शांति की अनुपम आभा, अंग-अंग के अणु-अणु से प्रवहमान अनंत मैत्री की अजस्र तरंगें। श्रद्धाविभोर संन्यासी ने भगवान के सामने घुटने टेक दिये, उनके चरणों पर सिर रख दिया।

"भंते भगवान! मुझे धर्म दीजिए। सुगत! मुझे शुद्ध धर्म की साधना सिखाइए, जिससे मेरा चिरकाल तक हित-सुख सधे।"

"धर्म सिखाने के लिए यह अनुकूल समय नहीं है, संन्यासी! तथागत इस समय भिक्षाटन पर निकले हैं। विहार लौट कर अवश्य सिखायेंगे।" भगवान ने कहा।

"भंते भगवान! जिंदगी का क्या भरोसा? न मेरी जिंदगी का, न आपकी जिंदगी का! इस समय आप के प्रति मेरी श्रद्धा भी सजीव है, भगवान! कृपा कर अभी धर्म सिखायें, जिससे चिरकाल तक मेरा हित-सुख सधे।"

संन्यासी द्वारा दुबारा, तिबारा आग्रह किये जाने पर वहीं राह पर एक ओर रुक कर भगवान ने उसे धर्मदेशना दी। संक्षेप में धर्म साधना सिखायी।

कहा – "इस प्रकार अभ्यास करना सीख। **दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति** – देखने में मात्र देखना ही हो। **सुते सुतमत्तं भविस्सति** – सुनने में मात्र सुनना ही हो। इसी प्रकार सूंघने में मात्र सूंघना, चखने में मात्र चखना, छूने में मात्र छूना, और जानने में मात्र जानना ही हो।"

समझदार संन्यासी ने भगवान के इस संक्षिप्त उपदेश को खूब विस्तार से समझा।

आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन इन छहों इंद्रिय-द्वारों में से जिस क्षण जिस किसी द्वार पर, जिस किसी विषय का यानी रूप, शब्द, गंध, रस,

स्प्रष्टव्य अथवा विकल्प का संस्पर्श-संघात हो, उस क्षण उसी की जानकारी हो और केवल जानकारी मात्र हो कर रह जाय। जिस क्षण जो हो रहा है, उस क्षण वही जानें। देखना तो मात्र देखना, सुनना तो मात्र सुनना, सूंघना तो मात्र सूंघना, चखना तो मात्र चखना, छूना तो मात्र छूना, सोचना तो मात्र सोचना और केवल जान कर ही रह जायँ, कोई प्रतिक्रिया न करें।

सतत अभ्यास द्वारा टुकड़े-टुकड़े करके काल के उस छोटे से छोटे हिस्से तक जा पहुँचें, जिसे चित्त-क्षण कहते हैं। देखेंगे कि इस एक नन्हें-से चित्त-क्षण में एक साथ दो घटना नहीं घटती। परंतु काल-धारा अत्यंत तीव्र गति से प्रवहमान होती रहती है, जिससे कि एक-एक क्षण को और उस एक-एक क्षण में घटने वाली घटना को हम अलग-अलग करके जानने की क्षमता गँवा बैठे हैं। तेज चलने वाले चलचित्र-सदृश इस जीवनधारा को गतिशील ही देखते रहने के इतने आदी हो गये हैं कि इस फिल्म-रील के एक-एक चित्र को अलग-अलग देख ही नहीं पाते। इसी से दृष्टि-भ्रम होता है, मरीचिका पनपती है। इसी से पूर्वापर संबंध जुड़ता है और प्रपंच बढ़ता है। राग-द्वेष और मोह-मूढ़ता का प्रपंच। यह कैसा होता है? आओ, समझें।

छह इंद्रिय-द्वारों में से जिस किसी पर इस क्षण जो घटना घटी, उसे केवल जान कर ही नहीं रह जाते, बल्कि झट **संज्ञा** द्वारा पहचानते हैं। **संज्ञा** यानी मानस का वह हिस्सा जो कि पूर्व अनुभूतियों और स्मृतियों के बल पर पहचानने का काम करती है। **संज्ञा** ने पहचाना कि हुआ प्रपंच आरंभ। छूट गया यह क्षण। लगे अतीत में भ्रमण करने। ऐसी अनुभूति पहले भी हुई थी, या इससे मिलती-जुलती हुई थी। और हुई थी तो अच्छी लगी थी या बुरी। यह मूल्यांकन होते ही प्रपंच और आगे बढ़ने लगता है। वेदना (शरीर पर होने वाली संवेदना) सुखद या दुःखद लगने लगती है। और तब चेतना का वह भाग जिसे **संस्कार** कहते हैं, झट अपना काम करने लगता है। उसका काम है प्रतिक्रिया करना। इस क्षण का देखना, सुनना, सूंघना, चखना, छूना और सोचना; अच्छा लगा तो राग की और बुरा लगा तो द्वेष की प्रतिक्रिया आरंभ हो जाती है। मन भविष्य में लोट-पलोट लगाने लगता है। ऐसा हो, ऐसा न हो। यों भूतकाल की याद और भविष्य की कामना, कल्पना और चित्तधारा पर राग-द्वेष की रेल-पेल चलने लगती है। इस क्षण जो देखना आदि हुआ उसे महज देखने आदि तक ही सीमित रखें तो न प्रपंच आरंभ होता है, न ही बढ़ता है। अनारंभी ही प्रपंच-मुक्त होता है।

साधक ध्यान देता है तो देखता है कि शरीर के पांच द्वारों पर स्पर्श-संघात की अनुभूति जितनी बार और जितनी देर होती है, उसके मुकाबले मन पर होने वाली कहीं अधिक है। देखने, सुनने, सूंघने, चखने और छूने की अपेक्षा सोचने का काम कई गुना अधिक होता है। जो घटना मन पर ही घटी, उसकी रेल-पेल तो मन पर चलती ही है, परंतु जो इन पांच कायेंद्रियों में से किसी पर घटी, उसकी भी प्रतिक्रिया मन पर ही होती रहती है। यह सारा प्रपंच, बढ़ाव, फैलाव मन से ही होता है; क्योंकि आरंभ मन से ही होता है। जब तक हम जीवित हैं और तन-मन के छह आयतन (खिड़की-दरवाजे) खुले हैं, तब तक हर क्षण किसी न किसी आयतन से कुछ न कुछ प्रविष्ट होता ही रहता है और उसे लेकर यह पागल आरंभी मन राग-द्वेष आरंभ कर प्रपंच बनाता ही रहता है। ऐसी अवस्था में चित्त-विशुद्धि कहां? चित्त-विमुक्ति कहां?

क्षण-क्षण के टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें अलग-अलग नहीं जानने से प्रत्युत्पन्न यानी वर्तमान को अतीत और अनागत से गड्ड-मड्ड किये रहते हैं। इससे एक और कठिनाई पैदा होती है। घटनाओं के इस तारतम्य में एक सूत्र पिरोया हुआ आभासित होता है – अहंभाव का, अस्मिताभाव का, आत्मभाव का एक अविरल सूत्र। इसी से एक **मैं** का अस्तित्व उभरता है। धीरे-धीरे यह **मैं है** की प्रतीति **मैं हूं** में परिवर्तित हो कर दृढ़ मूल हो जाती है। यह **मैं हूं** जिसने कि बचपन से अब तक ऐसी-ऐसी अनुभूतियां कीं और यह **मैं हूं** जो भविष्य में ऐसी-ऐसी अनुभूतियां करूंगा। **मैं हूं** का यह भ्रम इस अस्तित्वहीन **मैं** के प्रति आसक्तियां पैदा करता है जो कि राग और द्वेष की अग्नि को और अधिक प्रज्वलित करता है। यह **मैं हूं** की अविद्या ही है जो राग-द्वेष को, और रागद्वेष की मोहमूढ़ता ही है जो कि **मैं हूं** को परस्पर बलवान बनाती रहती है।

साधक अपने सतत अभ्यास द्वारा फिल्म की रील के टुकड़े-टुकड़े कर लेता है तो **मैं हूं** का भ्रम टूटता है। **मैं हूं** फिर **मैं है** में परिवर्तित होता है और **मैं है** केवल लोक व्यवहार के लिए रह जाता है। इसमें **मैं** के अलग-थलग व्यक्तित्व की भ्रांति दूर होती है। एक-एक क्षण का अपने आप में अलग-अलग साक्षात्कार होने लगता है। भ्रम टूट कर वस्तुस्थिति स्पष्ट होती है। प्रज्ञा जागती है, अविद्या का सारा क्लेश दूर होता है। राग-द्वेष की नई गांठें बँधनी बंद होती हैं और पुरानी खुलने लगती हैं।

तब देखने में 'देखता हूं' का भ्रम दूर होता है। 'देखने में मात्र देखना' ही रह जाता है। जैसे देखने में मात्र देखना, वैसे ही सुनने में मात्र सुनना, सूंघने में

मात्र सूंघना, चखने में मात्र चखना, छूने में मात्र छूना रह जाता है और ऐसे ही जानने में मात्र जानना रह जाता है। 'कर रहा हूं' या 'भोग रहा हूं' की जगह 'हो रहा है' की सच्चाई प्रकट होती है। भोक्ताभाव और कर्ताभाव की माया विदीर्ण होती है। अहंभाव अहंकार-विहीनता में प्रतिष्ठित होता है। आत्मभाव अनात्मभाव में बदलता है।

अब तक तो केवल सैद्धांतिक स्तर पर ही साधक यह मान कर चलता था कि यह काया और यह चित्त-प्रपंच 'मैं' नहीं हूं, 'मेरा' नहीं है, 'मेरी आत्मा' नहीं है। परंतु अब महज मानने की बात नहीं रह जाती। अब तो वह स्वानुभूतियों के बल पर इस सच्चाई को स्वयं जान लेता है और उसे स्पष्ट होता है कि इन ऐंद्रिय अनुभूतियों के कारण किसी **मैं** का अस्तित्व नहीं है और तब यह भी स्पष्ट होता है कि इन ऐंद्रिय अनुभूतियों में भी किसी **मैं** का अस्तित्व नहीं है। न ये ऐंद्रिय अनुभूतियां किसी **मैं** को धारण किये हुए हैं और न कोई मैं इन इंद्रियों को धारण किये हुए है।

यही बात संन्यासी को समझाते हुए भगवान ने कही कि जब तुम्हें **दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति...** यानी देखने में देखना मात्र... आदि होने लगे तो **ततो त्वं न तेन** यानी इस देखने, सुनने आदि के कारण से तुम हो, यह भ्रांति दूर होगी और तभी **ततो त्वं न तत्थ** यानी इस देखने, सुनने आदि में तुम हो, यह भ्रम भी मिटेगा। ऐसी अहं शून्य स्थिति होते ही लोकोत्तर निर्वाण का साक्षात्कार होगा। **एसेवन्तो दुक्खस्सा** यही दुःखों का अंत है।

मेधावी संन्यासी भगवान के दिये हुए इस संक्षिप्त उपदेश को विस्तार से केवल समझ कर ही नहीं रह गया, बल्कि उसे अभ्यास में उतारने लगा। जिसे अपनी मृत्यु समीप दिखे, उसे प्रमाद के लिए अवकाश कहां? वहीं-कहीं एक ओर बैठ कर अंतर्मुखी हुआ और अविरल चित्तधारा के टुकड़े-टुकड़े करके प्रत्येक क्षण जैसा है, वैसा अलग-अलग देखने लगा। देखते-देखते ही अस्मिताभाव टूटा, पूर्व संस्कारों से छुटकारा मिला और चित्त अनासक्त हो आस्रवों से विमुक्त हो गया। परम पद निर्वाण का साक्षात्कार हो गया। संन्यासी कृतकृत्य हुआ। धन्य हुआ। अत्यल्प बचा जीवन सफल-सार्थक हुआ। भगवान भिक्षाटन से लौटे तो उसकी जीवन-लीला पूरी हो चुकी थी। भिक्षुओं ने भगवान से उसकी गति पूछी तो भगवान ने कहा कि वह सभी गतियों के परे अर्थात गतिमुक्त हो गया है। परिनिर्वाण को प्राप्त हो गया है। उस समय भगवान के

मुँह से उदान के ये बोल निकल पड़े, जिनमें कि अनिर्वचनीय निर्वाणिक अवस्था के लिए नकारात्मक भाषा का ही प्रयोग हुआ है।

यत्थ आपो च पथवी, तेजो वायो न गाधति।
न तत्थ सुक्का जोतन्ति, आदिच्चो न पकासति॥

न तत्थ चन्दिमा भाति, तमो तत्थ न विज्जति।
यदा च अत्तना वेदि, मुनि मोनेन ब्राह्मणो।
अथ रूपा अरूपा च, सुखदुक्खा पमुच्चति॥

– जहां न पृथ्वी, न जल, न अग्नि और न वायु का ही प्रवेश है। जहां न शुक्र की ज्योति है, न सूर्य का प्रकाश है, न चंद्रमा का उजाला है और जहां आलोक का अभाव भी नहीं यानी अंधकार भी नहीं है। कोई ब्राह्मण मुनि मौन पथ पर चल कर इसे स्वयं जान लेता है तो सारे रूप और अरूप लोकों से पार चला जाता है। सुख दुःख के द्वंद्वों से मुक्ति पा लेता है।

यहां **अत्तनावेदि** शब्द साधकों के लिए ध्यान देने योग्य है। कोई साधक परम सत्य को **स्वयं जान कर** ही मुक्त हो सकता है।

हम नहीं जानते कि सुप्पारक पत्तन में वह संन्यासी किस नाम से पुकारा जाता था। पर पाली वाङ्मय में वह **बाहिय दारुचीरिय** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किसी को उसका नाम पूछने का और उसको अपना नाम बताने का अवकाश ही कब मिला? बाहर प्रदेश से आया था शायद इसलिए उसे **बाहिय** (बाह्य) कहा गया हो अथवा यह भी संभव है कि बाहर के किसी संप्रदाय का था इसलिए **बाहिय** कहा गया हो। दारु यानी पेड़ की छाल अर्थात वल्कल के चीवर पहने हुए था इसलिए जिसने देखा उसने **दारुचीरिय** कहा। इस प्रकार **बाहिय दारुचीरिय** नाम अमर हो गया। पर क्या पड़ा है नाम में? संप्रदाय में? देश में? वेश में? जो भी आंतरिक सच्चाइयों का स्वयं सूक्ष्मता से साक्षात्कार कर लेता है, **अत्तनावेदि** हो जाता है, वही मुक्त हो जाता है।

धन्य है यह धर्मगंगा, जिसमें कोई भी डुबकी लगा कर शुद्ध-बुद्ध, विमल-विमुक्त हो जाता है। न यह जाति पूछती है न गोत्र, न देश, न वेश, न वर्ग, न वर्ण, न समुदाय, न संप्रदाय। इसका कोई न अपना है न पराया, बाहरी है न भीतरी, देशी है न परदेशी। इस धर्मगंगा में जो नहाए सो निहाल।

ऐसी कल्याणकारिणी सार्वजनीन धर्मगंगा सब को मिले! सब का भला हो! सब का मंगल हो! सबकी विशुद्धि-विमुक्ति हो!

२. निंदा हो या प्रशंसा

राजगृह के महाराज बिंबिसार द्वारा दान दिये गये वेणुवन में अथवा अन्य किसी विहार में वर्षावास बिता कर भगवान देश-प्रदेश की धर्मचारिका पर निकल पड़ा करते थे। ऐसे ही अवसर का एक दृश्य हमारे सामने है।

पांच सौ भिक्षुओं के साथ भगवान राजगृह से नालंदा की ओर पैदल यात्रा पर निकले हैं। इस बड़े काफिले के पीछे-पीछे दो परिव्राजक भी यात्रा कर रहे हैं। एक है आचार्य सुप्पिय और दूसरा है उसका अंतेवासी शिष्य माणवक ब्रह्मदत्त। सारे रास्ते इन दोनों में परस्पर विवाद चलता रहा।

गुरु परिव्राजक सुप्पिय अनेक प्रकार से भगवान की निंदा करता, उन पर मिथ्या दोषारोपण करता। श्रमण गौतम सर्वज्ञ नहीं हैं, अरहंत नहीं हैं, लोगों को गलत रास्ते ले जाने वाले हैं, आदि-आदि। भगवान के सिखाये हुए धर्म की भी अनेक प्रकार से निंदा करता, उसे सदोष बताता। यह धर्म-शिक्षा अच्छी प्रकार से समझायी हुई नहीं है, मुक्ति की ओर ले जाने वाली नहीं है, आदि-आदि। भगवान के भिक्षु-संघ की भी अनेक प्रकार से निंदा करता, उन पर मिथ्या दोषारोपण करता। यह भिक्षु-संघ सुमार्ग-गामी नहीं है, ऋजुमार्ग-गामी नहीं है, आदि-आदि।

इसके विपरीत उसका तरुण शिष्य ब्रह्मदत्त अनेक प्रकार से भगवान की प्रशंसा करता, उनके गुणगान गाता। ये भगवान अरहंत हैं, लोकविदु हैं, आदि-आदि। भगवान के बताये हुए धर्म की अनेक प्रकार से प्रशंसा करता, गुणगान गाता। यह सु-आख्यात धर्म है, सांदृष्टिक है, आशुफलदायी है, मुक्ति तक ले जाने वाला है, आदि-आदि। भगवान के भिक्षु-संघ की अनेक प्रकार से प्रशंसा करता, गुणगान गाता। यह भिक्षु-संघ सुमार्ग-गामी है, ऋजुमार्ग-गामी है, शुद्ध चित्त है, आदि-आदि।

गुरु-शिष्य का यह कलह-विवाद सारे रास्ते चलता रहा। दोनों एक-दूसरे को अपना मंतव्य समझाने की कोशिश करते रहे, पर एकमत नहीं हो पाये।

गुरु सुप्पिय के मन में भगवान के प्रति असीम कटुता भरी है। उसका मन ईर्ष्या, द्वेषजन्य विकारों से जल-भुन रहा है। भगवान बुद्ध की सर्वत्र यशकीर्ति फैली है। काश्यप बंधुओं सहित उनके एक हजार जटा-जटिल शिष्य जब से भगवान के अनुगामी बने, तब से उनकी प्रतिष्ठा दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती

चली गयी। काश्यप बंधु लाखों मगधवासियों के पूज्य आचार्य रहे। अतः उनके लगभग सारे अनुयायी सहज ही भगवान बुद्ध के अनुयायी हो गये। स्वयं मगध नरेश बिंबिसार भगवान का श्रावक शिष्य बन गया। उसकी श्रद्धा अपरिमित हो उठी, क्योंकि उसे स्वयं प्रभूत धर्मलाभ हुआ। उसके परिवार के अन्य अनेक लोग भी लाभान्वित हुए। सदाचार का जीवन जीना और मन को राग-द्वेष आदि विकारों से मुक्त रखने की शिक्षा तो अन्य आचार्य भी देते थे। परंतु उनके पास इन उपदेशों को क्रियान्वित करने के लिए कोई कारगर उपाय नहीं था, कोई वैज्ञानिक विधि नहीं थी। बहुत हुआ तो कोई कर्मकांड या कोई व्रत-उपवास या किसी दार्शनिक मान्यता का जंजाल साथ लगा दिया। पर सुनियोजित ढंग से मन की गहराइयों में उतर कर जड़ों तक अंतर्मन के स्वभाव को पलट देने की कोई असरकारक विधि नहीं दे पाये। विपश्यना के रूप में जब ऐसी विधि भगवान से मिली तो कट्टरपंथी अंधविश्वासियों को छोड़ कर बाकी समझदार बुद्धिशाली लोग भगवान की ओर खिंचे हुए चले आये। इसी कारण भगवान बुद्ध की शिक्षा घर-घर में प्रवेश पाने लगी। हजारों की संख्या में लोग घरबार छोड़ कर भगवान के भिक्षु-संघ में सम्मिलित हो गये। लाखों गृहस्थ रहते हुए सद्धर्म के पंथ पर चलने लगे।

महाराज बिंबिसार ने बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को अपना अत्यंत मनोरम वेणुवन दान दे दिया। उसका अनुकरण करते हुए अन्य राजपुरुष और संपन्न नागरिकों ने केवल एक राजगृह नगर में ही भगवान के लिए सत्रह विहार बनवा दिये, जिनमें कि निरंतर विकासशील बहुसंख्यक भिक्षु-संघ निवास कर सकें और धर्म निर्देशन द्वारा लोक-कल्याण कर सकें।

सारे मगध देश में भगवान बुद्ध और उनके भिक्षु-संघ की मान प्रतिष्ठा बढ़ी तो अन्य सांप्रदायिक आचार्यों के लाभ-सत्कार में कमी आने लगी। गणाचार्य वेलट्ठपुत्र संजय के प्रमुख शिष्य उपतिस्स (सारिपुत्त) और कोलित (मोग्गल्लान) ने अपने आचार्य को छोड़ कर भगवान बुद्ध का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। इससे यह आचार्य-कुल लगभग छिन्न-भिन्न ही हो गया।

भगवान बुद्ध द्वारा काल्पनिकता से दूर सांप्रदायिकता-विहीन अनुभूतिजन्य सच्चाइयों पर आधारित सत्य धर्म का प्रकाशन किये जाने पर अनेक संप्रदाय-संस्थापक यशस्वी वयोवृद्ध संघी, गणी, गणाचार्यों की जनमान्यता क्षीण होने लगी। उनकी बाड़े-बंदी टूटने लगी। संभवतः परिव्राजक

सुप्पिय उन्हीं में से किसी एक का अनुयायी रहा होगा और इसी कारण उसके मन में भगवान बुद्ध और उनके भिक्षु-संघ के प्रति ईर्ष्याजन्य कटुता भरी होगी।

दूसरी ओर उसका अंतेवासी ब्रह्मदत्त अभी युवा है। लगता है किसी दार्शनिक मान्यता अथवा संप्रदाय की जकड़न अभी उसे बांध नहीं पायी है। वह भगवान बुद्ध के ओजस्वी, तेजस्वी व्यक्तित्व से ही नहीं, बल्कि उनके द्वारा सहज, सरल भाषा में समझाये गये वैज्ञानिक धर्म के प्रति भी आकर्षित हुआ है, और सौम्य, शांत भिक्षु-संघ के प्रति भी। वह देखता है कि भगवान और उनके भिक्षु जब चलते हैं तो कैसे नपे-तुले कदमों में, शालीनतापूर्वक **ओक्खितचक्खु** यानी नजर नीची किये हुए चलते हैं, जबकि अन्य संप्रदाय के कुछ संन्यासी किस उद्धतता से हाथ-पांव फटकारते हुए, आंखें फाड़ कर इधर-उधर ताकते-झांकते हुए चलते हैं। शालीनता का नामोनिशान नहीं है उनमें। भगवान का भिक्षु-संघ **तुण्हीभावो** यानी मौन रह कर चलता है, जबकि यह लोग चलते हुए भी कितनी बातें करते हैं, कितने वाचाल रहते हैं। उनके मन की बेचैनी वाणी में प्रकट होती रहती है। भगवान के भिक्षु कितने अल्पेच्छ हैं, अपरिग्रही हैं, पहने हुए चीवर के अतिरिक्त केवल भिक्षापात्र हाथ में है, जबकि अन्य संप्रदायवादी संन्यासी जोड़ू-बटोरू हैं। कितने बर्तन-भांड़े, कपड़े-लत्ते, और खाद्य-पेय पदार्थों का बोझ ढोए चलते हैं।

शिष्य माणवक ब्रह्मदत्त बुद्ध और धर्मसंघ का गुणगान गाते नहीं अघाता और गुरु परिव्राजक सुप्पिय उनकी निंदा करते नहीं थकता। सारे रास्ते दोनों में यह विवाद चलता रहा। राजगृह से नालंदा एक योजन की दूरी पर है। चलते-चलते इस काफ़िले ने आधा रास्ता तय कर लिया। महाराज बिंबिसार ने इस पड़ाव पर अपनी यात्रा-विश्राम के लिए तथा क्रीड़ा-किलोल के लिए एक बड़ा राज-उद्यान बना रखा था। चारों ओर सुदृढ़ दीवारों से घिरा हुआ सुरक्षित उद्यान, जिसमें अनेक फल-फूल वाले छायादार वृक्ष लगे थे। भरे-पुरे कुंए-बावड़ी, तालाब-सरोवर आवश्यक पानी की पूर्ति करते थे। बिंबिसार और उसके साथ आयी हुई बृहत राज्यपरिषद, राज-कर्मचारी तथा सुरक्षा सैनिकों के ठहरने के लिए अनेक आरामदेह भवन बने थे। सारे राज्य में ऐसे राज-विश्रांतिगृह स्थान-स्थान पर बने होंगे। इन्हें राजागार कहा जाता था। प्रस्तुत राजागार के मुख्यद्वार पर एक तरुण **अम्बरुक्ख** उगा था। इसीलिए इसका नाम **अम्बलट्ठिक राजागार** पड़ा।

लगता है श्रद्धालु बिंबिसार ने संघ सहित भगवान बुद्ध के यात्रा-विश्राम हेतु इस प्रकार के राजागारों में ठहरने की सुविधा प्रदान कर दी होगी। तभी हम देखते हैं कि दिन ढलते-ढलते भगवान और उनका भिक्षु-संघ नालंदा और राजगृह के आधे रास्ते पर बने हुए इस अम्बलट्ठिक राजागार में रात्रि-विश्राम के लिए ठहर गये हैं। उनके पीछे-पीछे चले आने वाले परिव्राजक और उसके शिष्य ने भी इस सुविधा का लाभ उठाया और वे भी वहीं ठहर गये। भगवान और भिक्षु-संघ ने अपनी रात्रिचर्या सदा की भांति पूरी की, परंतु ये दोनों गुरु-चेले रात भर उसी मुद्दे पर बहस-मुबाहस करते रहे।

नित्य-नियमानुसार रात्रि के प्रथम याम में भगवान ने स्नान करके कपड़े बदले और बुद्धासन पर बैठ कर भिक्षुओं के साथ एक मुहूर्त ध्यान किया। सारे भिक्षु निःशब्द मौन हो कर अधिष्ठान में बैठे। किसी के खांसने-खखारने तक की आवाज नहीं। शरीर में जरा भी हलन-चलन नहीं। सभी निष्कंप दीपशिखा की भांति निश्चल बैठ कर ध्यान करते रहे। तत्पश्चात भगवान ने उपदेश दिया। ध्यान की विधि पर कुछ प्रकाश डाला। जिन भिक्षुओं के प्रश्न थे, उनका उत्तर दिया। जिन्हें कोई उलझन थी, उनका समाधान किया। किसी-किसी को विपश्यना विधि की अधिक गहराइयां समझायीं। यों रात्रि का प्रथम याम पूरा हुआ। सारे भिक्षु विश्राम करने चले गये।

भगवान अब दूसरे याम की चर्या में लग गये। सदा की भांति इस मध्यम याम में विभिन्न लोकों से आये हुए देव-ब्रह्माओं के प्रश्नों के उत्तर देते रहे, उन्हें धर्मदेशना देते रहे। ध्यान सिखाते रहे। यों रात्रि का दूसरा याम भी बीता।

सदा की भांति भगवान ने रात्रि के तीसरे याम के तीन विभाजन किये। पहले भाग में वे कुछ देर बाहर खुले में चंक्रमण करते रहे, सजग हो कर चलते रहे। दूसरे भाग में अपने शयन कक्ष में दाहिने करवट सिंह शैया में लेट कर **सति-सम्पजञ्ञ** यानी स्मृति-संप्रज्ञान के साथ विश्राम किया और तीसरे भाग में बैठकर मैत्री ध्यान भावना करते हुए करुणचित्त से सारे लोकों का अवलोकन किया। कहां-कहां कौन-कौन सा प्राणी अपने पूर्वकृत कुशल कर्मों के कारण अब मुक्त अवस्था प्राप्त करने योग्य है और उसे कहां, कैसे मार्गदर्शन दिया जाय। इस प्रकार रात्रि का तीसरा याम भी पूरा हुआ।

यों तीनों यामों की निर्धारित रात्रिचर्या पूरी करके भगवान मैत्रीभावना के ध्यान से उठ कर बाहर आये तो देखा सूर्योदय के पूर्वाभास का संदेश लिए हुए ऊषा आकाश में ललाई बिखेर रही है। प्रत्यूष के इस सुहावने समय में कुछ

भिक्षु बाहर खुले में मंडप के नीचे बैठे हैं। कुछ बातें चल रही हैं। भगवान उनके समीप गये। सबने झुक कर नमस्कार किया। भगवान एक बिछे हुए आसन पर बैठ गये और भिक्षुओं से पूछा, "किस बात-चीत में लगे थे?"

भिक्षुओं ने उत्तर दिया, "भगवान क्षमा करें। कुछ देर तो धर्मचर्चा चली, पर उसके बाद लोक-चर्चा में लग गये। भंते भगवान! जब नालंदा से चले थे तो परिव्राजक सुप्पिय और उसका अंतेवासी माणवक ब्रह्मदत्त दोनों हमारे पीछे-पीछे आ रहे थे। सारे रास्ते उनका विवाद चलता रहा। एक बुद्ध, धर्म और संघ की बहुत प्रशंसा करता तो दूसरा उनकी तीव्र निंदा। जब हम आपके साथ राजागार में रात्रि-विश्राम के लिए ठहरे तो वे भी यहीं रुक गये। हमने देखा कि रात को भी उन्होंने विश्राम नहीं किया। सारी रात इसी विवाद में उलझे रहे।"

इस पर भगवान ने भिक्षुओं से कहा, "भिक्षुओ, कोई जब तुम्हारी निंदा करे तो न तुम्हें कुपित-क्रोधित होना चाहिए, न दुःखी-दुर्मन। शांत चित्त से अपने आपको जांच लेना चाहिए कि कहीं सचमुच हममें ऐसा दोष तो नहीं है। नहीं है तो हम निर्दोष हैं, इस तथ्य को स्वीकार कर लेना चाहिए। निंदा सुन कर कुपित होंगे, दुर्मन-दुःखी होंगे, तो अपनी ही हानि कर लेंगे। अपनी ही प्रगति के लिए अंतराय पैदा कर लेंगे।"

"इसी प्रकार कोई तुम्हारी प्रशंसा करे तो उसे सुन कर आनंदित न होने लगें, हर्षोत्फुल्लित न होने लगें। शांत चित्त से अपने आपको जांच कर देख लेना चाहिए कि हममें सचमुच ऐसा सद्गुण है, अथवा यह व्यक्ति अतिशयोक्ति कर रहा है? यदि सद्गुण हो तो मात्र स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि आनंद और हर्ष से फूल उठोगे तो अपनी ही हानि कर लोगे। अपनी ही प्रगति के लिए अंतराय पैदा कर लोगे।"

आओ! भगवान की इस धर्मवाणी को विस्तार से समझें और उसे धारण कर अपना हितसुख साध लें।

राग और द्वेष

भगवान की बतायी हुई साधना-विधि के साधक होने के नाते हम खूब समझने लगे हैं कि शब्द तो शब्द हैं। निंदा हो या प्रशंसा, मात्र तरगें ही तो हैं। परंतु निंदा के शब्द जब हमारे कानों में स्पर्श करते हैं तो अपने पुराने संस्कारों से प्रभावित हुई संज्ञा उनका अवमूल्यन करती है और इन शब्दों को बुरा मान

लेने के कारण शरीर में अप्रिय, दुःखद संवेदना उत्पन्न होती है। उसी के परिणामस्वरूप अज्ञान अवस्था में हमारे मानस का एक हिस्सा दुर्मन हो उठता है। द्वेष, क्रोध, कोप की प्रतिक्रिया करने लगता है।

इसी प्रकार जब प्रशंसा के शब्द हमारे कानों को स्पर्श करते हैं तो यह संज्ञा उनका अधिमूल्यन करती है और उन शब्दों को अच्छा मान लेने से शरीर में प्रिय, सुखद संवेदना उत्पन्न होती है। उसी के परिणामस्वरूप अज्ञान अवस्था में हमारे मानस का एक हिस्सा प्रफुल्लित हो उठता है और राग, लोभ, आसक्ति की प्रतिक्रिया करने लगता है।

प्रतिक्रिया चाहे द्वेष की करें या राग की, हमारा चित्त दूषित कर्म-संस्कार के धुएं से धूमिल हो उठता है। वह सच्चाई को यथाभूत नहीं देख पाता। अविद्या से अभिभूत हो जाता है। अपनी समता खो बैठता है और विकार पर विकार जगते ही जाते हैं। हमारी विपश्यना छूट जाती है। राग-द्वेष से मुक्त होने के काम में अंतराय, बाधा उत्पन्न हो जाती है। पांच नीवरणों में से यह दोनों प्रमुख हैं, अतः इनके रहते समाधि अवस्था भी नहीं प्राप्त हो सकती। प्रज्ञा जगा कर राग-विहीन, द्वेष-विहीन हो सकना तो दूर रहा। निंदा या प्रशंसा सुन कर राग या द्वेष जगाते हैं तो हम औरों की हानि करें या न करें, अपनी हानि तो अवश्य करते हैं। अपनी प्रगति में अवश्य बाधा पैदा करते हैं।

अतः इसे भलीभांति समझते हुए हम इससे बचें और धर्म-पथ पर प्रगतिशील बने रहें और अपना मंगल साधते रहें!

३. निस्संदेह बुद्ध होगा

बहुत-बहुत पुरानी बात है। प्रत्यंत प्रदेश का एक नगर। उन दिनों प्रत्यंत प्रदेश सरहदी प्रदेश को कहते थे। वह प्रदेश जहां अपने देश की सीमा का अंत होता है और प्रतिवेशी यानी पड़ोसी देश की सीमा का आरंभ होता है।

हां, तो ऐसे प्रत्यंत प्रदेश का यह परम रमणीय नगर। नाम भी था रम्य। आज इस नगर में बड़ी चहल-पहल है। लोगों ने अपने-अपने घर झाड़-बुहार कर साफ कर लिये हैं। लीप-पोत कर नयनाभिराम बना लिये हैं। घर-घर के दरवाजों पर आम के हरे पत्तों और रंग-बिरंगे फूलों की बंदनवारें बँधी हैं। नए कटे कदली वृक्ष के खंभे लगाये हैं, जिनमें से किसी-किसी पर केले के फूल और फल का घौद लटक रहा है। पानी-भरे कलश रखे हैं जिन पर नारियल रखे हुए हैं। नारियल के बीच आम के लंबे पत्ते हैं और लंबी, हरी दूर्वा उनकी शोभा बढ़ा रही है। गृहिणियों ने उमंग-भरे मन से अपने-अपने घर आंगन में चौक पूरे हैं। रंग-बिरंगी रंगोली द्वारा विलेपन-मंडन कला के उत्कृष्ट नमूने पेश किये हैं।

नगर के सार्वजनीन चौक में अत्यंत सुंदर मंडप खड़ा किया गया है, जिसे विमल, कोमल, नवल नील उत्पल-पुष्पों से सजाया गया है। पांच प्रकार की मांगलिक लाज-लावा भूमि पर बिखेरी गयी है। मंडप पर शुभ्र श्वेत वस्त्र का चंदोवा तना हुआ है। उसके चारों ओर सुंदर, सुगंधित फूल-पत्तों की माला बँधी है। नाना रंग की छोटी-बड़ी ध्वज-पताकाएं लगायी गयी हैं। नगर की पथ-पथिकाओं पर भी बहुरंगी झंडियों की बंदनवारें बँधी हैं। तोरणद्वार सजे हैं।

बच्चों और बच्चियों ने, किशोर और किशोरियों ने, युवक और युवतियों ने अपने-अपने मनपसंद के एक से एक सुंदर वस्त्र-आभूषण पहने हैं। नगर की सभी नर-नारियां आकर्षक परिधानों और अलंकारों से सुसज्जित हैं। मानो किसी उल्लास-भरे उत्सव की तैयारियां हो रही हैं।

पिछली रात तेज वर्षा हुई थी, परिणामस्वरूप नगर के बाहर की एक कच्ची सड़क ध्वस्त हो गयी। उस पर कहीं-कहीं खड्डे हो गये जिनमें पानी भर गया और सड़क पर जगह-जगह कीचड़ हो गया था। बहुत से लोग समीप से पत्थर-कंकर और सूखी मिट्टी ला-ला कर उस सड़क की मरम्मत करने में लगे थे।

– क्या आपके नगर में आज कोई उत्सव मनाया जाने वाला है? नगर में आये हुए एक नवागंतुक ने सड़क की मरम्मत करने वाले एक व्यक्ति से पूछा।

– हां भाई, स्वागत उत्सव मनायेंगे। लगता है तुम परदेशी हो। यहां के लिए अजनबी हो। तुम्हें पता नहीं। हमारे सौभाग्य से इस प्रत्यंत प्रदेश में भगवान दीपंकर बुद्ध पधारे हैं। अपने भिक्षु संघ के साथ हमारे इस रम्य नगर के बाहर सुदर्शन नामक महाविहार में टिके हैं। नगर के प्रमुख लोग कल उनके दर्शन कर आये और उन्हें भोजन के लिए निमंत्रित कर आये हैं। सारा नगर उन्हीं के स्वागत की तैयारियों में लगा है। वहां उस बड़े मंडप में भोजनदान का सामूहिक आयोजन है। लोग उन्हें बुलाने गये हैं। वह यहां पधारने ही वाले हैं। इस कीचड़ भरी सड़क को हमें शीघ्र सुधारना है ताकि भगवान बुद्ध और उनके भिक्षु शिष्यों को इस पर से पैदल चलने में कोई कठिनाई न हो।

– क्या कहते हो, बुद्ध? क्या सचमुच कोई व्यक्ति बुद्ध बना है? युवा तपस्वी ने विस्फारित नेत्रों से पूछा।

– हां भाई, भगवान दीपंकर सम्यक संबुद्ध बन गये हैं। क्या तुम्हें इस बात की भी सूचना नहीं है? लगता है तुम सचमुच अजनबी हो।

सचमुच वह अजनबी ही था। सुदूर देश का रहने वाला। मध्यम देश की अमरावती नामक महानगरी में एक अत्यंत धनाढ्य ब्राह्मण कुल में जन्मा। नाम सुमेध। अनेक पूर्व जन्मों के कुशल संस्कारों के कारण बचपन से ही सांसारिक सुख भोगों के प्रति अरुचि जागी। युवावस्था प्राप्त होते-होते एक दिन विरासत में मिली सारी धन-संपदा को बांट कर गृहत्यागी बना और सुदूर हिम प्रदेश के धम्मिक नामक पर्वत पर तप करने चला गया। वहीं तपते-तपते उसे आठों लोकीय ध्यान समापत्तियां प्राप्त हुईं। पांचों अभिज्ञान यानी ऋद्धियां उपलब्ध हुईं। अपने ऋद्धिबल से ही वह आज यहां पहुँचा था।

उसे यह जान कर अत्यंत सुखद आश्चर्य हुआ कि लोक में दीपंकर नाम के सम्यक संबुद्ध उत्पन्न हुए हैं। उसका सारा शरीर सिहरन से पुलकित हो उठा।

एक बुद्ध और दूसरे बुद्ध के बीच का अंतराल इतना बड़ा होता है कि अधिकांश लोग बुद्ध शब्द ही भूल जाते हैं। अतः यह शब्द सुनना भी दुर्लभ हो जाता है। वस्तुतः किसी का बुद्धत्व प्राप्त कर लेना और ऐसे किसी बुद्ध का साक्षात्कार होना तो बहुत बड़े सौभाग्य की बात होती है। आज उसे बुद्ध का प्रत्यक्ष दर्शन होगा। इस चिंतन मात्र से युवा तापस सुमेध हर्ष-विभोर हो उठा।

सड़क की मरम्मत करने वाले नागरिकों से उसने करबद्ध याचना की, मरम्मत की जा रही इस सड़क का थोड़ा-सा आगे का हिस्सा मेरे हवाले कर दिया जाय। मैं इस विषम भूमि को सम करूं। इसका कीचड़ दूर करूं। गीली को सूखी करूं। इसे भगवान के गमन योग्य बनाऊं। इस सेवा के पुण्य में मुझे भी भागीदार बनने दीजिए।

तपस्वी सुमेध का व्यक्तित्व बड़ा भव्य था। लंबा छरहरा शरीर, गौर वर्ण, बड़ी-बड़ी तेजस्वी आंखें, रोबीला चेहरा, सिर पर काले केशों की लंबी जटाएं। शरीर पर वल्कल वस्त्र, कांख में मृगचर्म, हाथ में कमंडल। लोग उसके भव्य आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित हुए, उसकी मांग अस्वीकार न कर सके।

सुमेध भावविभोर होकर सड़क की मरम्मत में लग गया। उसने नागरिकों से एक पात्र लिया। समीप से सूखी बालू भर-भर कर लाता और कीचड़-भरी सड़क पर बिछाता। उसके तेजस्वी चेहरे पर श्रम-कण उभर आये और नवोदित सूर्य की प्रकाश-किरणों में मोतियों की तरह आभास्वर हो उठे। बुद्ध के आगमन की बात सोचते-सोचते उसका मन बांसों उछलने लगता। वह उमंग-भरे उत्साह के साथ अपने काम में लग जाता।

इतने में एकाएक जनसमूह में हर्षध्वनि उठी। भंते भगवान पधार रहे हैं। **'बुद्धं सरणं गच्छामि'** का मंजुल मंगल घोष गूंज उठा। तपस्वी सुमेध का तन-मन पुलक-रोमांच से भर उठा। सचमुच सामने भगवान दीपंकर बुद्ध हैं। मंद गति से, नपे तुले कदमों से समीप चले आ रहे हैं। आंखों में करुणा की अजस्र अमृतधारा बह रही है। तपस्वी इस दर्शन मात्र से धन्यता अनुभव करने लगा। परंतु तभी उसे ध्यान आया कि सड़क का छोटा-सा हिस्सा अभी बिना मरम्मत किये हुए ही रह गया है। वहां दलदल है, कर्दम है, कीचड़ है। भगवान और उनके भिक्षु संघ को इस कीचड़ में पांव रख कर आना होगा। यह तो बहुत अनुचित होगा। उसने उस कीचड़ भरे स्थान पर तत्काल अपना मृगचर्म बिछा दिया। भगवान और भिक्षु संघ इस पर पांव रख कर आगे बढ़ें। परंतु फिर देखा कि चार हाथ कीचड़ की जगह अभी भी बाकी रह गयी है। सुमेध ने सोचा, अरे मेरा यह शरीर किस काम आयगा? इससे अच्छा और क्या उपयोग होगा इसका? अतः वह उस कीचड़ भरे स्थान पर औंधे मुँह लेट गया और अपनी जटा खोल कर आगे बिछा दी। भगवान और भिक्षु संघ इस जटा पर से चलें, मेरे शरीर पर से चलें। भले मेरे अंग क्षत-विक्षत हो जायँ, पर उनके पांव में कीचड़ न लगे।

और यों कीचड़ में लेटा-लेटा सुमेध तापस चिंतन करने लगा, मैंने ध्यान की ऊंची से ऊंची अवस्थाएं प्राप्त की हैं। सचमुच मेरे पास पर्याप्त पुण्य-पारमिताएं भी हैं और अब भगवान बुद्ध का साक्षात सान्निध्य प्राप्त हुआ है। उनसे विपश्यना की मुक्तिदायिनी विद्या सीख कर थोड़े से परिश्रम से नितांत विमुक्त अवस्था प्राप्त कर सकता हूं। पर इससे तो केवल मेरी ही मुक्ति होगी। क्या इसी के लिए पराक्रम करूं? यह तो बड़ी ओछी बात होगी। स्वार्थभरी, हीन बात होगी। नहीं, मुझे केवल अपनी मुक्ति के लिए परिश्रम नहीं करना है। मुझे इन भगवान दीपंकर की भांति सम्यक संबुद्ध बनना है। भले इसमें बहुत लंबा समय लगे। अनेक कल्प लग जायँ। भले इसके लिए मुझे विपुल पराक्रम-पुरुषार्थ करना पड़े। परंतु इस प्रकार सम्यक संबोधि प्राप्त करने पर मैं अनेकों की मुक्ति में सहायक बन पाऊंगा और सम्यक संबोधि प्राप्त करने के लिए पारमिताओं के अधिक परिमाण में परिपुष्ट करने में जो दीर्घकाल लगेगा, उसमें भी अनगिनत लोगों को धर्म की ओर प्रवृत्त करने का ही पुण्य कार्य करता रहूंगा। मुझे इसी जीवन में मुक्ति नहीं चाहिए। मुझे सम्यक संबुद्ध बनना है।

तब तक भगवान दीपंकर बुद्ध बिल्कुल समीप आ गये। उन्होंने अधोमुख लेटे हुए तापस सुमेध की ओर देखा। चेतोपरिञ्ञाण की सिद्धि से अपने चित्त से उसके चित्त की स्थिति जानी और मुस्कराये। त्रिकालज्ञ भगवान ने युवा तपस्वी का भूतकाल देखा। इसके पास अनेक कल्पों की पर्याप्त मात्रा में पारमिताएं हैं। इस गृहत्यागी ने इस मनुष्य जीवन को भी सार्थक किया है। कठिन परिश्रम द्वारा आठों ध्यान समापत्तियां उपलब्ध की हैं। इस समय विपश्यना विद्या मिलते ही अल्पकाल में ही यह व्यक्ति भव-मुक्त अरहंत अवस्था प्राप्त कर लेगा। भगवान ने देखा, यह व्यक्ति इस समय अनेकों के हित-सुख के लिए अपनी आशुमुक्ति को सहर्ष त्यागने का दृढ़ संकल्प लिए हुए है। आगामी असंख्य कल्पों तक इन्हीं पारमिताओं को बहुत बड़े परिमाण में और अधिक परिपुष्ट करने का इसका अधिष्ठान सचमुच सुदृढ़ है। यह संकल्प केवल भावावेशजन्य नहीं है। लोकहित के लिए दीर्घकाल तक कष्ट सहन कर सकने की इसमें प्रबल क्षमता भी है। तब भगवान ने उसका भविष्य देखा और मुस्कराये। सुमेध के सिरहाने खड़े भगवान दीपंकर बुद्ध ने तब यह आशीर्वादमयी मंगल घोषणा की;

– भिक्षुओ, यह जो जटाधारी उग्र तपस्वी कीचड़ में अधोमुख लेटा है, अत्यंत श्रद्धाबहुल है, दृढ़निश्चयी है। इसने इस समय जो दृढ़ निश्चय किया है,

यह इसके लिए बोधि का बीज बना है। यह बुद्धांकुर बोधिसत्त्व अदम्य उत्साह के साथ जन्म-जन्मांतरों में अपनी पारमिताओं को अत्यंत प्रबल-पुष्ट करता हुआ, अनेकों प्राणियों को धर्मपथ पर प्रेरित करता रहेगा और चार असङ्ख्येय्य और एक लाख कल्प पूरे होने पर सिद्धार्थ गोतम नामक सम्यक संबुद्ध बनेगा।

भगवान का आशीर्वादमय दाहिना हाथ उठा और मेघ-गर्जना की-सी मोदभरी वाणी में उन्होंने कहा, **धुवं बुद्धो भविस्ससि**। निस्संदेह यह व्यक्ति बुद्ध बनेगा।

सारे वातावरण में यह बुद्धवाणी गूंज उठी। लोक-लोकांतरों के असंख्य चक्रवालों से इस बुद्धवाणी की प्रतिध्वनि गूंज उठी;

धुवं बुद्धो भविस्ससि!

धुवं बुद्धो भविस्ससि!!

धुवं बुद्धो भविस्ससि!!!

४. महान परित्याग

अपने अनेक जन्मों के परिश्रम-पुरुषार्थ से जब कोई व्यक्ति सम्यक संबुद्ध बनता है तो उसकी लंबी भव-यात्रा के उस अंतिम जीवन में स्वभावतः अनेक लोग उसके संपर्क में आते हैं। उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व से, उज्ज्वल चरित्र से, निष्कपट व्यवहार से, सर्वथा निःसंग, निःस्पृह, निर्लिप्त परंतु कठोर, कर्मठ, आदर्श जीवनचर्या से, उसके द्वारा साम्प्रदायिकताविहीन, सार्वजनीन, सार्वभौमिक, सनातन, सत्यधर्म के प्रकाशन-प्रशिक्षण से, लोक-मंगल के सद्भावों से ओत-प्रोत उसकी करुणा-सिंचित वाणी से लोगों का उसकी ओर आकर्षित होना सहज स्वाभाविक है। उनमें से कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनके मन में ऐसा धर्म-संवेग जागता है कि हम भी इसी प्रकार सर्वगुण संपन्न, सर्वज्ञ महामानव बनें। केवल अपना ही उद्धार करके न रह जायँ, इन सम्यक संबुद्ध की भांति अनेकानेक प्राणियों के उद्धार में सहायक बनें।

जिस-जिस के मन में ऐसी कल्याणी धर्म-कामना जागती है, उपस्थित सम्यक संबुद्ध उन सबको सम्यक संबुद्ध बनने का आशीर्वाद नहीं दे देते। वह त्रिकालज्ञ होते हैं। अपने बोधि-नेत्रों से उस-उस व्यक्ति का भूत, वर्तमान और भविष्य देख लेते हैं और पात्र अनुकूल हो तो उसे सम्यक संबुद्ध होने का आशीर्वाद ही नहीं देते, प्रत्युत इस संबंध में भविष्यवाणी भी करते हैं कि यह व्यक्ति कब, कहां, किसके यहां जन्म लेकर, किस नाम, गोत्र वाला होकर सम्यक संबुद्ध बनेगा।

सम्यक संबुद्ध बनने की धर्मकामना करने वाले योग्य व्यक्ति को बहुत बड़ा त्याग करना पड़ता है। उपस्थित सम्यक संबुद्ध पात्र की इसी पात्रता को जांचते हैं। उस व्यक्ति के पास पूर्व जन्मों की संचित पुण्य-पारमिताओं का इतना संग्रह होना ही चाहिए कि उसी समय धर्मोपदेश सुनते-सुनते उसके भीतर साधना जग जाय और वह जीवन्मुक्त अरहंत अवस्था प्राप्त कर ले। वह जानता हो कि मैं किसी सम्यक संबुद्ध के संपर्क, शरण में आया हूं और मेरा मानस इतना विकार-विमुक्त हो चुका है कि जो अनुशय क्लेश यानी पूर्व जन्मों के विकारों की बची हुई क्षीण-सी जड़ें रह गयी हैं, वे अब निकल सकती हैं और मैं भवमुक्त हो सकता हूं। इतना जानते हुए भी वह व्यक्ति अपने लिए तत्काल प्राप्त हो सकने वाली इस मुक्ति का जान-बूझ कर परित्याग करता है। मैं ही

नहीं, मेरे साथ अन्य अगणित दुखियारों के लिए मुक्ति का द्वार खुले, इस उदात्त भाव से यह परित्याग करता है। उपस्थित सम्यक संबुद्ध को यह देखना होता है कि यह व्यक्ति सचमुच त्याग कर रहा है या नहीं। जिसके पास कुछ संचित संग्रह ही न हो और वह कहे कि मैं महान त्याग कर रहा हूं तो यह निरर्थक बात होगी। जिसमें अभी इसी जीवन में जीवन्मुक्त अरहंत बन सकने की क्षमता और योग्यता न हो, वह व्यक्ति अपनी जीवन्मुक्ति की संभावनाओं का त्याग करे, तो यह हास्यास्पद बात ही होगी।

पर्याप्त संचित पुण्य-पारमिता हो तो सम्यक संबुद्ध की धर्म-देशना सुनते-सुनते साधक अपने भीतर अनित्य-बोध की अनुभूति करने लगता है और किसी भी क्षण निरोध अवस्था प्राप्त कर नित्य, शाश्वत, ध्रुव, इंद्रियातीत निर्वाण अवस्था का साक्षात्कार कर लेता है। यों जन्म, जरा, व्याधि, मरण के भव-चक्र से पूर्णतया मुक्त होने का उसे पहला अनुभव हो जाता है। साधक सामान्य जन की अनार्य अवस्था से आर्य अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस अवस्था में वह चारों अधोगतियों (निरय, असुर, प्रेत और तिरश्चीन यानी पशु-पक्षी, सरीसृप आदि) से सर्वथा विमुक्त हो जाता है। इस अवस्था को स्रोतापन्न अवस्था कहते हैं, यानी यह व्यक्ति अब विमुक्ति के स्रोत में पड़ गया। इसके सर्वथा भव-विमुक्त होने में अब कोई बाधक नहीं बन सकता और विपश्यना करते हुए यह व्यक्ति स्रोतापन्न के आगे सकदागामी, अनागामी और अरहंत की तीनों अवस्थाएं उपलब्ध कर लेता है तो पूर्णतया विमुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता, यही उसका अंतिम जन्म होता है। ऐसे व्यक्ति की पुनर्मृत्यु नहीं होती, इस जीवन का अंत उसकी अंतिम मृत्यु है। यों जन्म-मृत्यु के चक्कर से छूट जाता है, यानी सारे दुःखों से छूट जाता है। किसी को ऐसी दुःख-विमुक्ति सहज उपलब्ध हो और वह उसे त्याग दे तो ही सही माने में महान परित्याग है जो कि उस व्यक्ति का बोधिसत्त्व यानी भावी बुद्ध बन सकने की क्षमता का प्रमाण है।

सम्यक संबुद्ध भगवान दीपङ्कर ने ऐसी ही अद्भुत क्षमता ब्राह्मण तपस्वी सुमेध में देखी और तभी उसके लिए आशीर्वचन कहे और मांगलिक भविष्यवाणी की। उन्होंने देखा कि इस तापस में अनेक कल्पों के अनेकानेक जन्मों में संगृहीत की गयी पुण्य-पारमिताएं यथेष्ट हैं। इस जीवन में भी इस तपस्वी ने पैतृक विरासत में मिली हुई विपुल धन-संपदा त्यागी है और हिमालय प्रदेश में गंभीर तपस्या करके आठों ध्यान समापत्तियां उपलब्ध की हैं।

पहले से चौथे ध्यान तक की सफलता तापस को रूप-ब्रह्मलोक में जन्म लेने का अधिकारी बनाती है। दान, शील, सदाचार आदि के पुण्य कर्मों के कारण कोई व्यक्ति छह में से किसी एक देव भूमि में अथवा पुनः मनुष्य भूमि में जन्म ले सकता है। परंतु प्रथम ध्यान की उपलब्धि होते ही रूप ब्रह्मलोकों से जुड़ जाता है। पहले से चौथे ध्यान का क्षेत्र शरीर के भीतर होता है और नाम तथा रूप यानी चित्त और भौतिक शरीर से संबद्ध रहता है। अतः इन चारों ध्यानों का ध्यानी अपने ध्यान की सूक्ष्मता और गंभीरता के अनुकूल क्रमशः सूक्ष्मतर होते हुए पहले से सोलहवें रूप-ब्रह्मलोक में जन्म लेता है, जहां प्राणी की आयु कई कल्पों की होती है। यहां के प्राणी अत्यंत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भौतिक शरीरधारी होते हैं, इसलिए ये लोक रूप-ब्रह्मलोक कहलाते हैं।

पांचवें से आठवां ध्यान अरूप ध्यान कहलाता है। चौथे ध्यान से आगे बढ़ते ही साधक रूप से यानी भौतिक आलंबनों से अपना संबंध विच्छेद कर लेता है। यहां तक कि अपने भौतिक शरीर से भी संपर्क तोड़ कर मात्र आकाश को अपने ध्यान का आलंबन बना कर इसका विस्तार करता हुआ "अनंत आकाश" के आलंबन में समाहित होकर पांचवें ध्यान में प्रतिष्ठित होता है। फिर इस समाधि से उठ कर वह विज्ञान यानी चैतन्य मानस के उस प्रथम खंड को जो जानने का काम करता है, आलंबन बना कर काम शुरू करता हुआ उसे क्रमशः फैलाते हुए "अनंत विज्ञान" के आलंबन में समाहित हो छठे ध्यान में प्रतिष्ठित होता है। इससे उठ कर अकिंचन यानी "कुछ नहीं है," का आलंबन ग्रहण कर उसे फैलाता है और "अनंत अकिंचन" के आलंबन में समाहित हो सातवें ध्यान में प्रतिष्ठित होता है। पांचवें से सातवें ध्यान तक मानस का वह हिस्सा जो पहचानने और मूल्यांकन करने का काम करता है, जिसे संज्ञा कहते हैं और जो सारे प्रपंचों की जड़ है, वह दुर्बल होती जाती है। तब साधक ऐसी अवस्था पर पहुँचता है जिसे **"नेवसञ्ञानासञ्ञायतन"** अवस्था कहते हैं (वह अवस्था जिसमें संज्ञा इतनी दुर्बल हो जाती है कि उसके होने, न होने का स्पष्ट आभास नहीं हो पाता)। यों इस आठवें ध्यान में समाहित हो, प्रतिष्ठित होता है।

पांचवें से आठवें ध्यान में आकाश अथवा मानस के अंगों को छोड़ कर और कोई भौतिक आलंबन नहीं होता। अतः इन समाधियों में सधा हुआ साधक अरूप-ब्रह्मलोक के क्रमशः पहले से चौथे भवाग्र लोक में जन्म लेने का अधिकारी होता है। अधोगति के चार, मनुष्य का एक, देवजाति के छह और

रूप-ब्रह्मलोक के सोलह, अरूप के चार, यों इकतीस लोकों में से कहीं जन्म ले, जीवन की अवधि कुछ क्षणों की हो अथवा अरूप-ब्रह्मलोक की भांति अगणित कल्पों की हो, अधोगति के दुःखों की हो अथवा देव ब्रह्म-लोक के असीम सुख, आनंद की हो, हर जन्म देर-सबेर मृत्यु में परिणत होता है और पुनर्जन्म होने के कारण भव-चक्र चलता रहता है। भवमुक्ति नहीं होती।

आठों ध्यानों में निपुण साधक दो प्रकार के होते हैं। उनमें से अधिकांश तो वे जो आठवें ध्यान को साधना की पराकाष्ठा मान कर यानी उसे ही मुक्ति, मोक्ष मान कर संतुष्ट हो जाते हैं और कुछ थोड़े से वे जो इस अवस्था में अत्यंत सूक्ष्म स्तर पर उत्पाद-व्यय की अनुभूति करते हैं। अतः इसे अनित्यता का क्षेत्र समझते हुए उसके परे, नित्य, शाश्वत, ध्रुव की खोज चालू रखते हैं। इन अवस्थाओं में एक या अधिक इंद्रियां काम करती हुई पाते हैं। अतः इंद्रियों से परे इंद्रियातीत अवस्था की खोज जारी रखते हैं। चौथे ध्यान के बाद रूप यानी भौतिक शरीर तथा सभी भौतिक पदार्थों से संबंध विच्छेद हो जाता है, परंतु नाम यानी चित्त और चैतसिक का क्षेत्र कायम रहता है। अतः चित्त के परे की परम अवस्था की खोज चालू रहती है।

ऐसा व्यक्ति अपने चित्त की गहराइयों में अत्यंत सूक्ष्म अवस्था में पूर्व संस्कारों की जड़ें देखता है और समझता है कि जब तक मेरे भीतर भव की जड़ें कायम हैं, तब तक मैं भव-मुक्त नहीं हुआ। समय पाकर ये जड़ें विकसित होंगी, फूलेंगी और फलेंगी और नए-नए भवों का, नए-नए जन्मों का कारण बनेंगी। ये क्लेश पांचवें से आठवें ध्यान में सो गये थे परंतु समाप्त नहीं हुए थे। ये अनुशय क्लेश यानी सुषुप्त भव-दुःख समय पाकर फिर जाग उठेंगे। ये अंतःशायी भव-बीज कभी भी अंकुरित हो सकते हैं। अतः वह बखूबी समझता है कि मैं अभी भव-मुक्त नहीं हुआ। मुझे भव-मुक्ति की कोई राह खोजनी है। ऐसा मुमुक्षु जब किसी सम्यक संबुद्ध का साक्षी बनता है और उसके मन में सम्यक संबुद्ध बनने की धर्म-कामना जागती है तो वही अधिकारी व्यक्ति कहलाता है।

भगवान दीपङ्कर सम्यक संबुद्ध के समक्ष कीचड़ में साष्टांग लेटा हुआ ब्राह्मण तपस्वी सुमेध ऐसा ही अधिकारी व्यक्ति था। उसके पास अनेक कल्पों की पारमिताओं का ऐसा यथेष्ट संबल था कि यदि उस समय भगवान उपदेश दें तो सुनते-सुनते ही उसके भीतर उदय-व्यय का अनित्य-बोध जाग जाय और तत्काल नित्य-ध्रुव का दर्शन करता हुआ क्रमशः अरहंत की निरोध अवस्था

उपलब्ध कर ले। पर इस प्रकार लगभग हाथ आये हुए अरहंत फल को वह त्यागता है। इसी माने में महान त्यागी कहलाता है।

चौथे से आठवें ध्यान की उपलब्धि करते-करते साधक पांच लोकिय अभिञ्ञा (अभिज्ञान) यानी लोकीय सिद्धियां प्राप्त कर लेता है;–

१. ऋद्धिविध यानी विविध प्रकार की ऋद्धियां; जैसे एक से अनेक होना, अंतर्धान हो जाना आदि-आदि चमत्कारिक प्रयोग।

२. दिव्यश्रोत्र यानी ऐसी सिद्धि जिसके द्वारा समीप व दूर की, मनुष्य या मनुष्येतर प्राणियों की वाणी सुन समझ लेने की क्षमता प्राप्त हो जाय।

३. चेतोपर्यज्ञान यानी ऐसी सिद्धि जिससे पराये चित्त को जान सकने की क्षमता प्राप्त हो जाय।

४. पूर्वेनिवासानुस्मृति यानी ऐसी सिद्धि जिससे अनेक पूर्व जन्मों का ज्ञान जाग उठे।

५. दिव्य-चक्षु (च्युत्योत्पाद ज्ञान) यानी ऐसी सिद्धि जिससे दिव्य चक्षु प्राप्त हो जायँ और सभी लोकों के प्राणियों को, उनकी गतिविधियों को, उनकी च्युति यानी मृत्यु को और मरणोपरांत उत्पाद यानी पुनर्जन्म को देख सके।

स्पष्ट है, इन पांचों लोकीय सिद्धियों से भव-मुक्ति नहीं हो सकती। भव-मुक्ति उस छठी लोकोत्तर सिद्धि से होती है जिसे आश्रव-क्षय-ज्ञान-सिद्धि कहा जाता है। इससे साधक अपने तथा औरों के भीतर पूर्णतया क्षय हुए आश्रवों द्वारा नितांत विमुक्ति का दर्शन करता है और परम विमुक्त सिद्ध पुरुष बन जाता है।

ब्राह्मण तापस सुमेध पांचों लोकीय सिद्धियों का धनी था। परंतु छठी सिद्धि का उसके पास अभाव था। इसी की उसे खोज थी। वह समझता था कि आश्रव-क्षय अवस्था की छठी सिद्धि आठों ध्यान के परे की सिद्धि है। वह यह भी समझता था कि इसे ही प्राप्त कर कोई व्यक्ति भव-मुक्त होता है और अरहंत बुद्ध कहलाता है। इसी कारण 'लोक में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं' – यह सुनते ही हर्ष-विभोर हुआ, रोमांचित हुआ। उनके दर्शन के लिए लालायित हो उठा और सेवा में तत्पर हो गया।

भगवान दीपङ्कर सम्यक संबुद्ध के सामने आते ही उसने परचित्त-ज्ञान की सिद्धि से देखा कि ये सचमुच आश्रव विमुक्त हैं, अतः निश्चित रूप से अरहंत हैं, बुद्ध हैं। मैंने आठों ध्यानों का अभ्यास किया है। इस व्यक्ति के मार्गदर्शन से मुझे अवश्य अरहंत अवस्था प्राप्त हो सकती है जिसकी कि मुझे खोज थी। परंतु फिर सोचता है कि मेरे अकेले की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होना तो बड़ी छोटी बात हुई। अपने साथ-साथ अन्य अगणित प्राणियों की मुक्ति में सहायक हो सकूं, इसी में सार्थकता है।

अतः आश्रव-मुक्त कर सकने वाली विद्या की मांग करने की बजाय उसने सम्यक संबुद्ध बनने की कामना प्रकट की तो लोक कल्याण के लिए अपने तत्काल सिद्ध होने वाले स्वार्थ का सचमुच परित्याग किया। महा-मंगलदायी परम परित्याग ही था वह!

५. सुखी-सुरक्षित कौन?

पालि वाङ्मय के विशाल फलक पर २,६०० वर्ष पूर्व के भारत का एक मनोहारी चित्र उभर कर आता है। उन दिनों कृषि के साथ-साथ गो-पालन लोगों का एक प्रमुख पेशा था। बड़े-बड़े गोप सैकड़ों, हजारों की संख्या में गौवें पालते थे और सुख-समृद्धि का जीवन जीते थे।

ऐसे ही एक समृद्ध और सुखी गृहस्थ के जीवन का चित्र उभर कर आया है। उसका नाम है धनिय गोप। उसकी प्रेमिल पतिव्रता पत्नी, सात आज्ञाकारी पुत्र, सात सुशील पुत्र-वधुएं और सात ही पुत्रियों का भरा-पूरा परिवार है। प्रचुर गो-धन के कारण परिवार में धन-धान्य की बहुतायत है। परिवार संयुक्त है। परिवार के लोग सदाचारी हैं। परस्पर स्नेह समाचरण है, सौमनस्यता है। अतः संतुष्टि है। सुख-समृद्धि की यह संतुष्टि धनिय गोप की हर्ष-भरी वाणी में स्पष्ट प्रकट होती है।

परंतु लोकीय समृद्धि के साथ-साथ यह आध्यात्मिक नव-जागरण का भी युग है। भगवान गौतम बुद्ध के आविर्भाव ने आध्यात्मिक वातावरण में गहन गंभीरता भर दी है। उनकी और उनके द्वारा सिखायी गयी मुक्तिदायिनी विपश्यना साधना की धर्मकीर्ति दूर-दूर तक फैल गयी है।

प्रस्तुत प्रसंग में धनिय गोप अपने परिवार और गो-धन के साथ मही नदी के तट पर बसा हुआ है। तट और तट के समीपवर्ती हरे-भरे चरागाह गो-धन के चरने के लिए बहुत अनुकूल हैं।

संध्या का समय है। अंशुमाली विश्राम के लिए पश्चिमी क्षितिज की ओर डग बढ़ा रहे हैं। आकाश में बादल छाने लगे हैं, घटाएं घिरने लगी हैं। बीच-बीच में बिजली चमक उठती है। गड़गड़ाहट-भरा घन-निनाद सारे वातावरण को आंदोलित कर देता है।

धनिय गोप अपनी कुटिया के सामने बैठा है। सांसारिक समृद्धि और पारिवारिक संवृद्धि से संतुष्ट-प्रसन्न है। उसके सौभाग्य से उसी समय भगवान बुद्ध भी मही के उस सुहावने तट पर आये हैं। धनिय गोप उल्लास-भरे शब्दों में अपने सुखी गृहस्थ जीवन के गीत गाता है। प्रत्युत्तर में भगवान अनुत्तर विमुक्ति-सुख का उद्घोष करते हैं। लोकीय सुख तो आखिर लोकीय सुख ही है। अनित्य, नश्वर, भंगुर, देर-सबेर बदल जाने वाला, विनष्ट हो जाने वाला और

परिणामस्वरूप दुःख ही उत्पन्न करने वाला होता है। नित्य, शाश्वत, ध्रुव, अनुत्तर विमुक्ति-सुख से उसकी कोई तुलना नहीं।

दोनों की वार्ता अत्यंत रोचक ही नहीं, बल्कि प्रेरणा-प्रदायक भी है। धर्म-संवेग जगाने वाली है। आओ, सुनें;

धनिय गोप – "भात मेरा पक चुका है। दूध दुह लिया गया है। संयुक्त परिवार के साथ सामंजस्यपूर्ण वातावरण में मही नदी के तट पर निवास करता हूं। कुटी छायी हुई है। आग सुलगा ली गयी है। अब हे पर्जन्य-देव! चाहो तो जी भर बरसो।"

(गृहस्थ जब सारे कामों से निवृत्त हो कर विश्राम करता है तो वर्षा भले बरसे, उसे बाधक नहीं लगती।)

भगवान बुद्ध – "मैं क्रोध और कठोरता से सर्वथा निवृत्त हूं। मही नदी के तीर पर एक रात के लिए ठहरा हूं। मेरी कुटी बिना छत की है। मेरी आग बुझ चुकी है। अब हे देव! चाहो तो जी भर बरसो।"

(जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए कोई बाधा रह ही नहीं जाती। यह भौतिक शरीर एक कुटिया है जो राग, द्वेष और मोह से आच्छादित रहती है और जिसमें मर्कट स्वभावी मन निवास करता है। विपश्यना साधना द्वारा विकारों पर पड़ा यह आच्छादन खुल जाता है, मानो कुटिया की छत खुल जाती है तो मन का मर्कटपना समाप्त हो जाता है। वह शांत हो जाता है। इसे ही विवट-कपाट या विवट-कुटी कहते हैं। ऐसे निर्वाणदर्शी व्यक्ति के भीतर विकारों की अग्नि पूरी तरह बुझ जाती है। उसका भव-भ्रमण छूट जाता है। उसका यह अंतिम जीवन होता है। इसीलिए मही तट पर केवल एक रात टिकने की बात कही।)

धनिय गोप – "यहां न मक्खी है, न मच्छर। गौवें तटवर्ती कछार पर उगी घास चरती हैं। वर्षा भले बरसे, वे उसे सह लेंगी। इसलिए हे देव! चाहो तो जी भर बरसो।"

(मक्खी मच्छर का न होना उन दिनों के ग्राम्य-जीवन की स्वच्छता पर प्रकाश डालता है।)

भगवान बुद्ध – "मैंने एक नाव बनाई और भवसागर के पार चला आया। अब तो इस नाव की भी आवश्यकता नहीं रह गयी। इसलिए हे देव! अब चाहो तो जी भर बरसो।"

(भव-पार पहुँचे हुए व्यक्ति को कोई भवबाधा नहीं। अब संसार की आंधी, वर्षा उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते।)

धनिय गोप – "मेरी गोपी आज्ञाकारिणी है, अ-लोलुप है, अ-व्यभिचारिणी है। दीर्घकाल से वह मेरे साथ प्रेमपूर्वक रहती है। उसके बारे में मैंने कभी कोई पाप की बात नहीं सुनी। अब हे देव! चाहो तो जी भर बरसो।"

(एक गृहस्थ के लिए पतिव्रता जीवन-संगिनी चिंतामुक्त सुख का कारण होती है।)

भगवान बुद्ध – "मेरा मन आज्ञाकारी है, विमुक्त है। दीर्घ काल से मैंने इसे सुशिक्षित कर रखा है, सुदंत बना रखा है। मुझमें जरा भी पाप नहीं बचा है। इसलिए हे देव! अब चाहो तो जी भर बरसो।"

(ऐसे विमुक्तचित्त की सारी दुश्चिंताएं स्वतः समाप्त हो जाती हैं। जो निष्पाप है, उसके लिए कोई भव-बाधा नहीं।)

धनिय गोप – "मैं स्वयं अपना मालिक हूं। वेतनभोगी मजदूर नहीं। मेरे सभी पुत्र भी आज्ञाकारी हैं। मेरे समान स्वस्थ संयमी हैं। उनके बारे में भी कभी कोई पाप की बात नहीं सुनी। इसलिए हे देव! अब चाहो तो जी भर बरसो।"

भगवान बुद्ध – "मैं किसी का चाकर नहीं। निवृत्त हो कर सारे संसार में चाहे जहां विचरण करता हूं। मुझे चाकरी की आवश्यकता नहीं। इसलिए हे देव! अब चाहो तो जी भर बरसो।"

(जो अपने मन का गुलाम नहीं, स्वयं अपना मालिक है, वह सही माने में स्वाधीन है। अतः चिंतामुक्त है।)

धनिय गोप – "मेरे ये तरुण बैल हैं, गर्भधारिणी गौवें हैं, बछिया हैं। इन गौवों का पति गवंपति वृषभ भी है। इसलिए हे देव! चाहो तो जी भर बरसो।"

(धन-धान्य से परिपूर्ण हो, स्वस्थ हो, पतिव्रता पत्नी हो और आज्ञाकारी पुत्र हो तो गृहस्थ अपने आपको बड़ा सुखी, सुरक्षित महसूस करता है।)

भगवान बुद्ध – "मेरे पास न बैल हैं, न बछड़े, न गर्भधारिणी गौवें हैं, न बछिया और न ही गवंपति वृषभ। इसलिए हे देव! चाहो तो जी भर बरसो।"

(अपरिग्रही अनासक्त से बढ़ कर सुखी, सुरक्षित और कौन होगा भला?)

धनिय गोप – "मेरे खूंटे बड़ी दृढ़ता से गड़े हैं। भली प्रकार बटी हुई मूंज की नई मजबूत रस्सियां हैं। बलवान बैल भी इन्हें नहीं तोड़ सकते। इसलिए हे देव, चाहे तो जी भर बरसो।"

(संसारी व्यक्ति समझता है कि यह धन-धान्य, वैभव-संपदा, पुत्र-कलत्र मेरे हैं। मैंने इन्हें बांध रखा है। अपने वश में कर रखा है। ये सदा मेरे अधिकार में रहेंगे। इसलिए मैं भविष्य के लिए सदा पूर्ण सुरक्षित हूं। बेचारा भोला मानव नहीं जानता कि जिन्हें मैंने बांध रखा है उन्होंने ही मुझे बांध रखा है। जिस परिवार और संपदा को मैं स्थायी, सुरक्षित समझता हूं, मेरे साथ-साथ वह सब कितने अस्थायी हैं, कितने असुरक्षित हैं। इसी जीवन में विवश देखते-देखते समाप्त हो जाते हैं और यह दुःख-गर्भा अस्थायी सुख जन्म-जन्मांतरों तक चलते रहता है। कैसा विभ्रम है? कैसा विपर्यास है?)

और इसके मुकाबले,

भगवान बुद्ध – "जैसे बलवान वृषभ सारे बंधन तोड़ देता है, जैसे बलवान हाथी सारी लताओं को छिन्न-भिन्न कर देता है, वैसे ही मैंने भी अपने सारे बंधन पूर्णतया तोड़ दिये हैं। मैं भवबंधन से मुक्त हो चुका हूं। अब मेरे लिए पुनर्जन्म नहीं है, पुनः गर्भशयन नहीं है। हे देव, इसलिए चाहो तो जी भर बरसो।"

पूर्ण विमुक्ति के इस मंगल-घोष ने सारे वातावरण को धर्म की तरंगों से तरंगित कर दिया। जहां एक ओर समीप की ऊंची-नीची धरती को जल राशि से भरता हुआ पर्जन्य मेघ बरसा, वहीं साथ-साथ सारी प्रकृति को सद्धर्म के अमृतजल से सींचता हुआ भगवान की वाणी का धर्म-मेघ बरसा। धनिय गोप भाग्यशाली था। अनेक जन्मों की संगृहीत पुण्य पारमिताओं का धनी था। धर्मवाणी का यह मंगलघोष सुनते ही उसका तन-मन पुलक-रोमांच से भर उठा। अनित्यबोधिनी तरंगों से लहराती हुई धर्म-गंगा सारे शरीर में प्रवहमान हो उठी। क्षण भर के लिए इंद्रियातीत, नित्य, ध्रुव, निरोध अवस्था का साक्षात्कार हुआ। धनिय धन्य हुआ। स्रोतापन्न बना। उसके साथ परिवार के कुछ अन्य सदस्य भी स्रोतापन्न बने।

अभी तक तो केवल नाम ही सुना था। अब देखा और जाना कि यह तो स्वयं भगवान बुद्ध पधारे हैं। मैं भी कैसा पागल था, इनसे जबान लड़ा रहा था। पर चलो, अच्छा ही हुआ। इस बहाने इनका दर्शन हुआ। सही दर्शन हुआ। भौतिक काया का ही दर्शन नहीं, धर्मकाया का भी दर्शन हुआ। स्वानुभूति के

स्तर पर धर्म का दर्शन हुआ। यही तो भगवान का सही दर्शन है। मैं निहाल हो गया।

महामेघ की वर्षा-ध्वनि के बीच धनिय गोप भावविभोर, नतमस्तक हो कर निवेदन करता है।

लाभा वत नो अनप्पका।

– सचमुच हमारा अनल्प लाभ हुआ है।

हमने भगवान के सही दर्शन किये हैं। हे चक्षुष्मान! हम आपकी शरण ग्रहण करते हैं। हे महामुनि! आप हमारे शास्ता हैं, गुरु हैं। यह गोपी और मैं अब आपकी शिक्षा के अनुकूल विशुद्ध ब्रह्मचर्य का जीवन जीते हुए धर्म का आचरण करेंगे और इस पथ पर आगे बढ़ते हुए जन्म-मृत्यु को पार करते हुए भव-दुःखों का नितांत अंत कर लेंगे।

धनिय गोप को अपने भव-क्षेत्र के बाहर जाते हुए देख कर देवपुत्र मार ने कहा, "पुत्रवान पुत्रों से आनंदित होता है, गो-धनी गौवों से। विषय-भोग ही मनुष्य के आनंद का कारण होता है। जिनके पास विषय-भोग के साधन नहीं हैं, उनके पास आनंद कहां?"

इसके प्रत्युत्तर में भगवान की गुरुगंभीर धर्मवाणी गूंजी – "पुत्रवान पुत्रों के कारण चिंतामग्न रहता है और गो-धनी गौवों के कारण। विषयासक्ति के कारण मनुष्य चिंताग्रस्त रहता है। जो विषयासक्ति से विमुक्त है, वही चिंता-विमुक्त है।"

भगवान की यह धर्ममयी वाणी हमारे लिए भी प्रभूत प्रेरणा का कारण बने! हम भी धनिय गोप की तरह कदम-कदम आगे बढ़ते हुए विषयासक्ति से छुटकारा पायें और दुःख-विमुक्त हो कर अपना कल्याण साध लें!

६. यथार्थ की अनुभूति

काम-वासना मानवमन की सबसे बड़ी दुर्बलता है। जिन तीन तृष्णाओं के कारण वह भवनेत्री से बँधा रहता है, उसमें कामतृष्णा प्रथम है, प्रमुख है। माता-पिता के काम-संभोग से मानव की उत्पत्ति होती है। अतः अंतर्मन की गहराइयों तक काम-भोग का प्रभाव छाया रहता है। इसके अतिरिक्त अनेक जन्मों के संचित स्वयं अपने काम संस्कार भी साथ चलते ही हैं। अतः मुक्ति के पथ पर चलने वाले व्यक्ति के लिए काम-भोग के संस्कारों से छुटकारा पाना बहुत कठिन होता है। विपश्यना करनी न आये तो असंभव ही हो जाता है।

काम-वासनाओं से छुटकारा पा कर कोई व्यक्ति ब्रह्मचर्य का जीवन जीना चाहता है, परंतु बार-बार मन में वासना के तूफान उठते हैं और उसे व्याकुल बनाते हैं। कहीं ब्रह्मचर्य भंग न हो जाय, इसलिए वह कठोरतापूर्वक वासनाओं का दमन करता है और परिणामतः अपने भीतर तनाव की ग्रंथियां बांधता है। दमन द्वारा वासनाओं से मुक्ति नहीं मिलती। भीतर-ही-भीतर वासना उमड़ती कुलबुलाती रहती है और मन को मथती रहती है। यों दमन द्वारा ब्रह्मचर्य पालने वाला कोई विश्वामित्र जैसा साधक मेनका जैसी अप्सरा की रूप-माधुरी पर फिसल जाता है तो आत्मग्लानि, आत्मक्षोभ और आत्मगर्हा से भर उठता है। ऐसा होने पर अपराध की ग्रंथियां बांध-बांध कर अपनी व्याकुलता को और बढ़ाता है।

इसीलिए फ्रायड जैसे मनोविज्ञानवेत्ता ने कामवासना के दमन को मानसिक तनाव और व्याकुलता का प्रमुख कारण माना और काम-भोग की खुली छूट को प्रोत्साहित किया। अनेक लोग इस मत के पक्षधर बने। आज के युग के कुछ एक साधना सिखाने वाले लोग भी इस बहाव में बह गये। ऐसे लोगों ने रोग को तो ठीक तरह से समझा, पर रोग-निवारण का जो इलाज ढूंढ़ा, वह रोग के बढ़ाने का ही कारण बन बैठा। काम-वासना का दमन एक अंत है, जो सचमुच रोग-निवारण का सही उपाय नहीं है। परंतु उसे खुली छूट देना ऐसा दूसरा अंत है जो कि रोग-निवारण की जगह रोग-संवर्धन का ही काम करता है।

जब कोई व्यक्ति बुद्ध बनता है तो तृष्णा के सभी बंधनों को भग्न करके विकार-विमुक्ति के ऐश्वर्य का जीवन जीता है। इसीलिए वह भगवान कहलाने

का अधिकारी होता है। ऐसा व्यक्ति काम-तृष्णा, भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा; इन तीनों से छुटकारा पा लेता है और जिस विपश्यना-विद्या द्वारा यह मुक्त-अवस्था प्राप्त की, उसे ही करुण चित्त से लोगों को बांटता है।

विपश्यना साधना की विधि न विकारों के दमन के लिए है और न उन्हें खुली छूट देने के लिए। विपश्यना-विधि इन दोनों अतियों के बीच का मध्यम-मंगल मार्ग है जो जागे हुए विकार को साक्षीभाव से देखना सिखाती है, जिससे उसका शमन होता है, दमन नहीं। विपश्यना शरीर पर होने वाली तत्कालीन संवेदनाओं को भी साक्षीभाव से देखना सिखाती है जिससे कि अंतर्मन की गहराइयों में दबे हुए काम-विकारों को भी जड़ से निकालने का काम शुरू हो जाता है। कुशल विपश्यी साधक समय पा कर इस विधि में पारंगत होता है और कामविकारों का सर्वथा उन्मूलन कर लेता है और सहजभाव से ब्रह्मचर्य का पालन करने लगता है। इसके अभ्यास में समय लगता है। बहुत परिश्रम, पुरुषार्थ, पराक्रम करना पड़ता है। परंतु यह पराक्रम देह-दंडन का नहीं, मानस-दमन का नहीं, बल्कि मनोविकारों को तटस्थभाव से देख सकने की क्षमता प्राप्त करने का है; जो कि प्रारंभ में बड़ा कठिन लगता है, पर लगन और निष्ठा से अभ्यास करते हुए साधक देखता है कि शनैः शनैः उसके मन पर वासना की गिरफ्त कम होती जा रही है। दमन नहीं करने के कारण कोई तनाव भी नहीं बढ़ रहा है और समय पा कर सारे काम-विकारों से मुक्त हो कर ब्रह्मचर्य का जीवन जीना सहज हो गया है। यह सब कैसे होता है? इसे समझें।

पुरुष के लिए नारी के और नारी के लिए पुरुष के रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श से बढ़ कर अन्य कोई लुभावना आलंबन नहीं होता। ये पांचों आलंबन आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा की इंद्रियों पर आघात करते हैं अथवा इनकी याद और कल्पना चिंतन के रूप में मन की इंद्रिय पर आघात करती है तो ही वासना के विकार जगने का काम आरंभ होता है। पहली पांचों इंद्रियां शरीर पर स्थापित हैं ही। छठी मन की इंद्रिय भी शरीर की सीमा के भीतर ही होती है। अतः विपश्यना साधना का अभ्यास साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर ही किया जाता है, बाहर नहीं। कामतृष्णा जहां जागती है, वहीं उसे जड़ से उखाड़ा जा सकता है, अन्यत्र नहीं। साढ़े तीन हाथ की काया में इंद्रिय-सीमाक्षेत्र के भीतर इसकी उत्पत्ति होती है, यहीं इसका निवास और संवर्धन होता है। अतः विपश्यना द्वारा यहीं इसका उन्मूलन किया जा सकता है।

देखना यह है कि बाहर के आलंबन ने अपने भीतर क्या खटपट शुरू कर दी! आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा पर रूप, शब्द, गंध, रस और स्प्रष्टव्य का संपर्क होते ही यानी प्रथम आघात लगते ही अत्यंत सूक्ष्म स्तर पर तत्संबंधित इंद्रिय-दरवाजे पर और फिर सारे शरीर पर प्रकंपन होता है। **फस्स पच्चया वेदना** स्पर्श होते ही संवेदना होती है। जैसे कांसे के बर्तन को छू देने से उसमें झंकार की तरंगें उठती हैं। इस प्रथम आघात के तुरंत बाद मानस का वह हिस्सा जिसे संज्ञा कहें या बुद्धि कहें, वह अपने पूर्व अनुभव और याददाश्त के आधार पर, इस आलंबन को पहचानता है – "यह पुरुष अथवा नारी का रूप, शब्द, गंध आदि है।" और फिर उसका मूल्यांकन करता है, "ओह, बहुत सुंदर है, बहुत मधुर है।" ऐसा करने पर शरीर पर होने वाली ये तरंगें प्रिय प्रतीत होने लगती हैं और मानस उनके प्रति राग-रंजित हो कर उनमें डूबने लगता है। **वेदना पच्चया तण्हा** संवेदना से ही (काम) तृष्णा होती है। यहीं से वासना का दौर शुरू हो जाता है। बार-बार रूप, शब्द, गंध आदि संबंधित इंद्रियों से टकराते हैं, बार-बार प्रिय मूल्यांकन होता है, बार-बार प्रतिक्रियास्वरूप वासना के संस्कार बनते हैं। यों क्षण-प्रतिक्षण एक के बाद एक वासना के संस्कार बनते-बनते पत्थर की लकीर जैसे गहरे हो जाते हैं। जब रूप, शब्द, गंध, रस आदि बाहरी आलंबन प्रत्यक्षतः आंख, कान, नाक आदि इंद्रिय-द्वारों से संपर्क करना बंद कर देते हैं तो छठी इंद्रिय का दरवाजा खुल जाता है। अब मन की इंद्रिय पर पूर्व अनुभूत रूप, शब्द, गंध आदि के आलंबन कल्पना और चिंतन के रूप में टकराने लगते हैं। फिर वही क्रम चल पड़ता है। प्रथम आघात से प्रकंपन का होना, फिर प्रिय मूल्यांकन, फिर संवेदना, फिर प्रतिक्रियास्वरूप वासना के संस्कारों की उत्पत्ति। क्षण-प्रतिक्षण चिंतन का आलंबन चित्तधारा से टकराता रहता है और क्षण-प्रतिक्षण वासना का संस्कार पैदा होता रहता है। यह क्रम जितनी देर चलता है, वासना उतनी ही बलवती होती जाती है। मन पर उमड़ती हुई यह तीव्र वासना वाणी और शरीर पर प्रकट होने के लिए मचल उठती है। सारा का सारा चित्त वासना के प्रवाह में आमूल-चूल डूब जाता है।

वासना में डूबे हुए व्यक्ति की **सति** यानी स्मृति (यहां स्मृति का अर्थ याददाश्त नहीं है।) यानी जागरूकता बनी रहती है। वासना-व्यथित व्यक्ति स्मृतिमान रहता है यानी सजग रहता है। परंतु सजग रहता है केवल रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श अथवा चिंतन के आलंबन के प्रति ही। इन छह में से किसी न किसी आलंबन पर उसका ध्यान लगा रहता है। यही आलंबन का ध्यान वासना को उद्दीप्त करता है। अतः स्मृति रहते हुए भी इसे सम्यक स्मृति यानी सही

स्मृति नहीं कहते। मिथ्या स्मृति कहते हैं। **सतिमुट्ठा** कहते हैं। इन छह आलंबनों में से कोई एक भी जब तत्संबंधित इंद्रिय-द्वार के संपर्क में आता है तो स्वानुभव का काम शुरू हो जाता है। संपर्क होते ही तरंगरूपी वेदना का होना, संज्ञा द्वारा मूल्यांकन करना, संवेदना का प्रिय लगना और प्रिय संवेदना का रसास्वादन करते हुए वासना के संस्कार की प्रतिक्रिया का आरंभ होना, यह सब स्वानुभूति का क्षेत्र है। अतः सत्य का क्षेत्र है। इसके प्रति सजग रहे तो स्मृति सम्यक है। केवल आलंबन के प्रति सजग रहे, आलंबन के स्पर्श का भी निरीक्षण न कर सके, उसके आगे की स्वानुभूतियां तो दूर रहीं, तो स्मृति मिथ्या ही हुई, क्योंकि गहरी अनुभूति वाला क्षेत्र भुलाया हुआ है।

स्मृति यानी जागरूकता जब **सम्पजञ्ञ** से जुड़ती है तो सम्यक हो पाती है। साधक **आतापी सम्पजानो सतिमा** हो जाता है। इसी को विपश्यना कहते हैं। इसी को **सतिपट्ठान** कहते हैं यानी सति का सम्यक रूप से स्वानुभूतिजन्य सत्य में प्रतिष्ठापित हो जाना। विपश्यी साधक यही करता है। वह सत्यदर्शी होता है। आत्मदर्शी होता है। आत्मदर्शी के माने जिसका कभी स्वयं अनुभव किया ही नहीं; ऐसी सुनी-सुनाई, पढ़ी-पढ़ाई दार्शनिक मान्यता वाली कल्पित आत्मा का दर्शन करना नहीं। यहां आत्मदर्शन का अर्थ है – स्वदर्शन। अनुभूतियों के स्तर पर अपने बारे में जिस-जिस क्षण जो-जो सच्चाई प्रकट हो उसे ही साक्षीभाव से देखना सत्यदर्शन है, स्वदर्शन है, आत्मदर्शन है। मुक्ति का सहज उपाय है। किसी कल्पना का ध्यान मन को कुछ देर के लिए भरमाए भले रखे, पर विकार-विमुक्त नहीं कर सकता।

कोरे बौद्धिक अथवा भक्ति-भावावेशमूलक मान्यताओं के दायरे के बाहर निकल कर साधक अनुभूति के स्तर पर यथार्थ की भूमि पर कदम रखता है। जो सत्य है उसे केवल मान कर नहीं रह जाता, उसे जानता है – **जानाति** और प्रज्ञापूर्वक जानता है – **पजानाति** । साक्षीभाव से, तटस्थ भाव से बिना राग के, बिना द्वेष के, बिना मोह के यथाभूत – जैसा है वैसा, उसके सत्य स्वभाव में, यथार्थ को जानता है। मात्र जानता है। कोई प्रतिक्रिया नहीं करता; न उसे दूर करने की, न उसे रोके रखने की। केवल दर्शन, केवल ज्ञान। यही है **पजानाति** ।

बाहर का आलंबन चाहे जो हो, अपने भीतर कामवासना जागी तो बाहर के आलंबन को गौण मान कर अपने भीतर की अनुभूतिजन्य सच्चाई को जानने का अभ्यास साधक शुरू कर देता है।

सन्तं वा अज्झत्तं कामच्छन्दं – जब भीतर कामतृष्णा है; तो **अत्थि मे अज्झत्तं कामच्छन्दोति पजानाति –** मेरे भीतर कामछंद यानी कामतृष्णा है; यह प्रज्ञापूर्वक जानता है। प्रज्ञापूर्वक इस माने में भी कि यह अनित्य स्वभाव वाली है, अनंतकाल तक बनी रहने वाली नहीं। इस समझदारी के साथ तटस्थभाव बनाये रखता है। उसे दूर करने की जरा भी कोशिश नहीं करता, अन्यथा दमन के एक अंत की ओर झुक जायगा। और न ही उसे वाणी और शरीर पर प्रकट होने की छूट देता है। अन्यथा आग में घी डालने वाले दूसरे अंत की ओर झुक जायगा। बस उसके अनित्य स्वभाव को समझते हुए केवल जानता है– **पजानाति**। क्योंकि अब उसे बढ़ावा नहीं मिल रहा, अतः समय पा कर वह जागी हुई कामतृष्णा स्वतः दूर हो जाती है। साधक इस सच्चाई को भी महज साक्षीभाव से प्रज्ञापूर्वक जान लेता है। **असन्तं वा अज्झत्तं कामच्छन्दं –** नहीं है भीतर कामछंद तो; **नत्थि मे अज्झत्तं कामच्छन्दोति पजानाति –** मेरे भीतर कामछंद नहीं है; इस सच्चाई को प्रज्ञापूर्वक तटस्थभाव से जानता है।

और क्योंकि विपश्यना कर रहा है तो **सतिमुट्ठा** नहीं हुई, **सतिपट्ठान** का अभ्यासी है यानी, अपने भीतर नाम-रूप यानी चित्त और शरीर के प्रपंच को प्रज्ञापूर्वक अनुभूति के स्तर पर जानने का काम कर रहा है। इसी को **सति** के साथ **सम्पजञ्ञ** को जोड़ना कहते हैं। शरीर-चित्त का प्रपंच वेदनाओं के रूप में प्रकट होता है। साधक मानस पर जागी हुई संवेदनाओं को तटस्थभाव से देखता है। ये संवेदनाएं अंतर्मन से जुड़ी रहती हैं, अतः मन की गहराइयों में दबे हुए कामवासना के अंतःशायी संस्कार (अनुशय-क्लेश) की उदीरणा शुरू हो जाती है। इन पूर्व संचित अनुत्पन्न कामवासनाओं का उत्पाद शुरू हो जाता है; **यथा च अनुप्पन्नस्स कामच्छन्दस्स उप्पादो होति तञ्च पजानाति**।

और उदीर्ण हुई इस चिरसंचित कामवासना को भी साक्षीभाव से संवेदनाओं के स्तर पर देखते रहता है तो उन पुराने संस्कारों की परत पर परत उतरते हुए उनकी निर्जरा होती जाती है, उनका क्षय होते जाता है। **यथा च उप्पन्नस्स कामच्छन्दस्स पहानं होति तञ्च पजानाति –** यों उदीरणा और निर्जरा होते-होते, प्रहाण क्षय होते-होते एक समय ऐसा आता है, जब कि अंतर्मन की गहराई तक के कामतृष्णा के सारे संस्कार उखड़ जाते हैं, उनका नाम-लेश तक नहीं रहता। अब कोई कामवासना जागती ही नहीं। न किसी वर्तमान के आलंबन के कारण और न कोई पुराने संग्रह में से। **यथा च पहीनस्स कामच्छन्दस्स आयतिं अनुप्पादो होति तञ्च पजानाति**। प्रहीण हुयी कामवासना का

भविष्य में उत्पाद नहीं होगा यह भी प्रज्ञापूर्वक अनुभूति के स्तर पर जानता है साधक परम मुक्त अवस्था तक पहुँच जाता है।

जो परिश्रम करे, वही इस मुक्त अवस्था तक पहुँचे। किसी भी जाति का हो, वर्ण का हो, रंग-रूप का हो, देश-विदेश का हो, बोली-भाषा का हो; जो करे वही मुक्त। जो न करे उसे लाभ कैसे मिले भला? कोई-कोई इसीलिए नहीं करता कि यह तो हमारी परंपरागत दार्शनिक मान्यता के अनुकूल नहीं है, हम क्यों करें? कोई-कोई इसलिए नहीं करता कि यह हमारी मान्यता के अनुकूल है; देखो हमारी मान्यता कितनी महान है! इस गर्व गुमान में ही संतुष्टि कर लेता है। मान्यताओं में उलझे हुए लोग विपश्यना नहीं कर सकते, इससे लाभान्वित नहीं हो सकते। करें तो लाभान्वित होंगे ही।

७. सच्ची विजय

विजय-पर्व मनाने का एकमात्र उद्देश्य यही होना चाहिए कि किसी की विजय को याद कर हम भी विजयी बनने की प्रेरणा प्राप्त करें और प्रयत्नशील हो कर स्वयं भी विजयी बनें। किसी की विजय का गुणगान गा लेने मात्र से अथवा जश्न मना लेने मात्र से, खुशियां मना लेने मात्र से हमें क्या मिला? हमारा लाभ तो स्वयं विजयी बनने में है। किसी ने अपने दुश्मनों पर विजय पायी और फलस्वरूप उन दुश्मनों के अत्याचारों से मुक्त हो कर सुखी हो गया। इससे हमें सुख कैसे मिला? हम तो तभी सुखी होंगे जब कि स्वयं अपने दुश्मनों का खात्मा कर लेंगे, अपने दुश्मनों के अत्याचारों से मुक्ति पा लेंगे।

भगवान बुद्ध ने अपने दुश्मन पर विजय पायी। उनका दुश्मन था मार यानी मृत्युराज। यह हम सब का भी दुश्मन है। मृत्युराज के चंगुल से निकलना सचमुच बड़ा ही कठिन काम है। राग, रति और तृष्णा उसकी बेटियां हैं। इन बेटियों के बल पर यह सभी लोगों पर अपना अधिकार जमाए हुए है। सभी प्राणी राग, रति और तृष्णा के अधीन हैं। बार-बार इन वासनाओं के जाल में उलझ कर जन्म लेते हैं और बार-बार मृत्यु के मुँह में पड़ते हैं। भगवान बुद्ध की यही सम्यक संबोधि थी, यही उनकी विमुक्ति थी कि उन्होंने तृष्णा, राग, रति को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया और मृत्युराज को निरुपाय कर दिया; निहत्था, निःशस्त्र, निर्बल कर, परास्त कर दिया। अब बुद्ध के लिए न बार-बार का जन्म रह गया और न बार-बार की मृत्यु रह गयी। वे मृत्यु के बंधनों से मुक्त हो गये।

बुद्ध ने मार को परास्त कर दिया, बुद्ध ने मार पर विजय प्राप्त कर ली, इसलिए हम खुशियां मनायें और बुद्ध के गुणगान गायं तो इससे हमें क्या मिल जाने वाला है? क्या इससे हम भी मुक्त हो जायंगे? क्या इससे हम भी मृत्यु के चंगुल से छुटकारा पा लेंगे? क्या इससे हम भी अमृत-पद प्राप्त कर लेंगे? यदि ऐसा होता तब तो विजय की खुशियां मनानी अवश्य सार्थक होतीं। परंतु ऐसा होता कहां है? यदि बुद्ध द्वारा मार को जीत लेने पर सारी दुनिया सदा के लिए मृत्यु के चंगुल से छुटकारा पा चुकी होती, तब तो ये खुशियां मनायी जानी अवश्य कुछ अर्थ रखतीं। परंतु ऐसा तो हुआ नहीं, ऐसा कभी होता भी नहीं। सभी लोग मृत्यु के अधीन हैं, क्योंकि सभी लोग तृष्णा के अधीन हैं। तो खुशियां किस बात की? अमृत तत्त्व प्राप्त करने के लिए तो एक-एक को स्वयं

अपनी लड़ाई लड़नी होगी। स्वयं अपने भीतर समायी हुई तृष्णा को नेस्तनाबूद करना होगा, उसे जड़ से उखाड़ना होगा। तभी विजय मिलेगी, तभी मुक्ति मिलेगी। बुद्ध की विजय बुद्ध के लिए मुक्तिदायिनी साबित हुई। इसी प्रकार एक-एक व्यक्ति की अपनी विजय ही उसके लिए मुक्तिदायिनी साबित होगी। हां, किसी अन्य की विजय, किसी अन्य की मुक्ति हमारे लिए प्रेरणा का कारण अवश्य बननी चाहिए, हमारे लिए मार्ग-निर्देशिका अवश्य बननी चाहिए। हम भी उसी मार्ग को अपनाएं, जिसे अपना कर कोई व्यक्ति विजयी बना, मुक्त बना। हम भी उसी रास्ते पर चल कर विजयी बनें, मुक्त बनें। तभी विजय-पर्व मनाने का कोई अर्थ है, कोई लाभ है, कोई मतलब है।

किसी व्यक्तिविशेष द्वारा किसी अन्य व्यक्ति पर विजय प्राप्त करने की याद में खुशियां मनाना तो और भी बेमाने है। विजय दशमी के दिन सम्राट अशोक ने कलिंग देश को परास्त किया। वहां के लोगों पर विजय प्राप्त की। भयानक संग्राम में हजारों लोग मारे गये, लाखों अंगहीन हो गये, कितने अनाथ हुए, कितनी मांगों का सिंदूर पुँछ गया, कितनी गोदें सूनी हो गयीं, कितने घर उजड़ गये, कितने चमन वीरान हो गये। बर्बादी के इस माहौल में अशोक ने कलिंग देश पर विजय पायी। क्या हम इस विजय की खुशियां मनायें? क्या यह विजय सचमुच विजय थी? इस विजय की महिमा बढ़ाने के लिए और विजेता की गौरव-गरिमा स्थापित करने के लिए न जाने कितने कवियों, लेखकों और साहित्यकारों ने कलिंग पर हर प्रकार की दुष्टता का और अशोक पर हर प्रकार की सौजन्यता का गहरा रंग-रोगन चढ़ा दिया होता। परंतु इससे भी यह विजय, विजय नहीं होती। यह तो अशोक की पराजय थी। वह अपनी लालसाओं का गुलाम था, एषणाओं का दास था, तृष्णाओं का बंदी था। उनको वह जीत कहां सका? जीतता तो इतनी भयानक बर्बादी करता ही कैसे?

उसकी सच्ची विजय तो इस बात में हुई कि इस विनाश-लीला ने उसकी आंखें खोल दीं। संत पुरुष अरहंत मोग्गलिपुत्त तिस्स के संपर्क में आ कर इस विजय-दशमी के दिन ही उसे अपनी भूलों का बोध हुआ। फलतः हिंसा के मार्ग का परित्याग कर उसने शांति-पथ चुना। यही उसकी विजय थी। उसने अपने आप को जीता, अपने मन को जीता, अपने मन में समाए हुए दुर्गुणों को परास्त किया। अब चंड-अशोक **धम्म-अशोक** बन गया। देवताओं सहित सभी प्राणियों को प्यारा लगने वाला, **देवानांप्रिय अशोक** बन गया। युद्ध की विकराल ज्वालाएं बुझ गयीं। शांति की चांदनी शीतलता बरसाने लगी। सारे देश में प्रेम,

करुणा और जन-सेवा की पावन गंगा लहराने लगी। चारों ओर सुख-शांति और समृद्धि का साम्राज्य छा गया। यही अशोक की सच्ची विजय थी।

ऐसी विजय हमें भी प्राप्त हो। हम भी अपने मन में समाए हुए सभी दुर्गुणों की आग बुझा सकें, अपने अंतर्मानस को निर्मल शांति-लहरियों से उर्मिल कर सकें। यही जीत हमारी सच्ची जीत होगी। बाहर के दुश्मनों को जीतना कोई जीत नहीं है। हिंसा के बल से एक को जीत भी लेंगे तो अधिक बलवान दूसरा अपना सिर उठायेगा और हमें डरायेगा। जय-पराजय का यह चक्र हमें सदा अशांत ही रखेगा। हम सदा अपने से अधिक बलवान से भयभीत ही रहेंगे। निर्भयता हमसे कोसों दूर रहेगी। ऐसी अवस्था में हम भला अपने-आप को विजयी कैसे कह सकेंगे? भगवान ने कितना ठीक कहा; "हजार बार हजार युद्ध-भूमियों पर हजार-हजार योद्धाओं को अकेला परास्त कर देने वाला भी विजयी कहलाने योग्य नहीं है। सच्चा विजयी तो वही है, जो कि अपने आप को जीत चुका है।"

सचमुच जिसने अपना मन जीत लिया, उसने जग जीत लिया। जो अभी तक अपने मानसिक व्यसनों का गुलाम है, वह चक्रवर्ती सम्राट हो कर भी पराजित ही है। अतः दूसरे को जीत कर हमें क्या मिलेगा? जीतना ही है तो अपने आप को जीतें। यही सच्ची जीत है। यदि किसी दूसरे को जीतना ही चाहते हों तो अपने निश्छल प्यार से जीतें, असीम करुणा से जीतें, बंदूक से नहीं। डंडे और बंदूक की जीत, जीत नहीं होती। हर डंडे के मुकाबिले में कोई न कोई बड़ा डंडा तैयार होता रहता है। हर बंदूक के मुकाबिले में कोई न कोई बड़ी बंदूक तैयार होती रहती है। इस स्पर्धा में जीत कहां? परंतु जिसे प्यार से जीत लें, मैत्री और करुणा से जीत लें, वह जीत फिर हार में नहीं बदल सकती। कोई उससे बड़ी मैत्री पैदा कर के उस विजय को पुष्ट ही करेगा। उसके नष्ट होने की कत्तई आशंका नहीं।

अंगुलिमाल एक बड़ा खौफ़नाक डाकू था। मनुष्य की देह में पूरा पिशाच। कोशल देश का राजा प्रसेनजित उस राक्षस के बोझ से पृथ्वी का भार हल्का करना चाहता था। वह उसे मारने में सफल नहीं हुआ। यदि अपने विपुल सैन्य बल से वह अंगुलिमाल को मार भी देता तो क्या इससे समस्या का समाधान हो जाता? किसी को मार देने से न मरने वाले का उद्धार होता है, न अन्य लोगों का। असली उद्धार तो उसको बदल देने में है। उसको दानव से मानव बना देने में है। उसकी पैशाचिक वृत्तियां नष्ट कर देने में है; और यह काम असीम मैत्री और करुणा से ही हो सकता है, डंडों से नहीं, बंदूक की नलियों से नहीं। जो

काम राजा प्रसेनजित की सेना की तलवारें नहीं कर सकीं, वही तथागत की असीम मैत्री ने कर दिखाया। भगवान ने मैत्री और करुणा के बल पर ही उस भूले-भटके व्यक्ति को सही मार्ग पर आ सकने में सहायता प्रदान की। उसे सदा के लिए जीत लिया। धर्म का अभ्यास कर वह अरहंत हो गया। जीवन-मुक्त हो गया। उसके भीतर समायी हुई सारी पाप वृत्तियों का क्षय हो गया। अब वह धरती पर भार नहीं रहा। लोगों के त्रास का कारण नहीं रहा। अब तो वह संत पुरुष शुद्ध-चित्त से लोगों की सेवा में लग गया। सही माने में उसका भी उद्धार हुआ और जनता का भी उद्धार हुआ। ऐसा उद्धार डंडे के बल पर कभी नहीं हो पाता। हिंसा से हिंसा पर विजय नहीं पायी जा सकती। वैर से वैर पर विजय नहीं पायी जा सकती। अहिंसा और मैत्री से ही हिंसा और वैर को जीता जा सकता है। उनका शमन किया जा सकता है। यही सनातन धर्म है, यही प्रकृति का अटूट नियम है। धर्म के इस गूढ़ रहस्य को हम भी समझें और हत्याओं के बजाय प्यार और करुणा द्वारा किसी बुरे की बुराई को जीतने का प्रयत्न करते रहें। यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जब कि हम पहले अपने आप को पूरी तरह जीत लें। अपने अंतर्मन की गंदगियों को दूर करके उसे स्वच्छ और निर्मल बना लें। तभी वह सही मैत्री और करुणा से परिपूर्ण हो सकेगा। तभी वह औरों को प्रभावित कर सकेगा। जब तक ऐसा न होने लगे तब तक अपने आप को जीतने में ही लगे रहें, अपने आप को ही स्वच्छ और निर्मल करने में लगे रहें। विपश्यना के सतत अभ्यास द्वारा आत्मविजयी बनें, तृष्णा को जड़ से उखाड़ फेकें, आसक्तियों के बंधन से मुक्त हो जायँ और इस प्रकार अपने आप पर विजय पाते हुए सही अर्थ में विजयपर्व मनाना सीखें। इसी में हमारा मंगल है, कल्याण है, भला है। यही हमारी सच्ची विजय है। इसे ही प्राप्त कर हम स्वयं सुखलाभी हों तथा औरों के सुख-वर्धन का भी कारण बनें।

व्यावहारिक जीवन में हमें कभी-कभी किसी पागल व्यक्ति का सामना करना पड़ जाता है, तो उसके साथ कठोरता का बर्ताव करना जरूरी हो जाता है। ऐसे समय कठोरता बरतें, परंतु बरतें उसके पागलपन के प्रति। उस पागल के प्रति तो हमारा मन करुणा से ही भरा हो। ठीक वैसे ही जैसे कि डॉक्टर फोड़े के प्रति कठोरता बरतता हुआ उसे चीरता है, परंतु रोगी के प्रति तो उसके मन में करुणा ही करुणा समायी होती है।

सब्बे सत्ता सुखिता होन्तु!

८. वीतशोक सचमुच वीतशोक हुआ

भगवान बुद्ध के लगभग दो शताब्दी बाद देश में अशोक नाम का सम्राट हुआ। उसके अनेक भाइयों में से एक था वीतशोक। राजपुत्रों को जिन विद्याओं और शिल्पकलाओं के कौशल में निपुण होना चाहिए, राजकुमार वीतशोक युवा अवस्था को प्राप्त होते-होते उन सब में निपुण हो गया। अपने बड़े भाई की देख-रेख में राज-काज की जिम्मेदारियां सँभालने लगा। कालांतर में अशोक बदला। आदि, मध्य और अंत में सर्वतोभद्र कल्याणकारी शुद्ध धर्म के संपर्क में आया तो चंडाशोक से धम्माशोक हो गया। तत्कालीन धर्माचार्यों के कुशल निर्देशन में भगवान की सर्वमांगल्यमयी धर्मवाणी और उनके बताये हुए साधनामार्ग का प्रतिपादन करते हुए सम्राट अशोक ने अपूर्व शांति अनुभव की। धर्मराज के हृदय में अपनी प्रजा के प्रति असीम वात्सल्य जागा। राज्य की आमदनी प्रजा की सुरक्षा के साथ-साथ उसकी सुख-सुविधा में खर्च होने लगी। सड़कों का निर्माण किया गया जिनके किनारे-किनारे फल और छायादार वृक्ष लगाये गये। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर पानी और प्याऊ का प्रबंध किया गया। स्थान-स्थान पर धर्मशालाएं बनीं। अनेक औषधालय बने; मनुष्यों के लिए ही नहीं, पशुओं के लिए भी। इन सबसे बढ़ कर लोगों को सांप्रदायिकता-विहीन, शुद्ध धर्म की सैद्धांतिक और व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करने के लिए राज्य की ओर से धर्मामात्य नियुक्त किये गये। स्थान-स्थान पर प्रस्तर शिलाओं और पाषाण स्तंभों पर शुद्ध धर्म की वाणी खुदवायी गयी ताकि राज्य के शासनाधिकारी और प्रजा उसे पढ़ कर सद्धर्म के प्रति उत्साहित हों। स्थान-स्थान पर साधना केन्द्रों की स्थापना की गयी ताकि लोग संयम और चित्तशुद्धि का अभ्यास कर स्वयं लाभान्वित हो सकें।

लोगों पर धर्म का प्रभाव बढ़ रहा था। इसके साथ-साथ राज्य परिवार के सदस्यों में भी धर्म-भावना बढ़ रही थी। सब नहीं तो भी अधिकांश इस धर्म-गंगा में डुबकी लगाने लगे और धर्मसुधा का रसपान कर कृतार्थ होने लगे। अपने रनिवास के लिए उसने विशेष धर्माचार्यों को नियुक्त किया।

सम्राट का अनुज वीतशोक पुण्यशाली था। धर्म ने उसे प्रभावित किया। भगवान की वाणी में उसने शांति और निर्मलता का संदेश पाया। वह गृहस्थ रहते हुए ही पूज्य भिक्षु गिरिदत्त स्थविर के चरणों में बैठ कर सारा सुत्तपिटक पढ़ गया। हृदय को छू जाने वाली इस महामांगल्यमयी भगवद्वाणी ने राजकुमार

वीतशोक को अभिभूत कर लिया। सरल भाषा में कही गयी भगवान की अमृतवाणी पढ़ कर धर्म की गुत्थियां, गुत्थियां नहीं रह गयीं। कल्पनाओं और अंध मान्यताओं के जंजाल अपने आप दूर होने लगे। सत्य का आलोक अज्ञान के अंधकार को विदीर्ण करने लगा। कार्य-कारण की नैसर्गिक नियमावली स्पष्ट समझ में आने लगी। प्रतीत्य-समुत्पाद की कड़ियों पर आधारित भव-प्रवाह बहुत साफ दीखने लगा। कड़ियों के टूटने पर भव-प्रवाह के निरुद्ध हो जाने की बात भी बहुत साफ समझ में आयी। चित्त और चित्त की चेतना तथा भौतिक शरीर की क्षण-क्षण परिवर्तित संतति कैसे एक दूसरे को प्रभावित करती है और कैसे इन्हें भली प्रकार समझ कर भवधारा से मुक्ति पायी जा सकती है, यह बात भी स्पष्ट हुई। भव-प्रवाह दुःख ही है और इसका मूल कारण है तृष्णा, जिससे इसका समुदय होता रहता है। इस कारण के निवारण से यह प्रवाह स्वतः रुक जाता है। इस कारण के निवारण के लिए कितनी स्पष्ट लेकिन परिश्रम-साध्य विधि है, जिसके अभ्यास से कोई भी व्यक्ति दुःखनिरोध की परम अवस्था प्राप्त कर सकता है। यों सुत्त पिटक का अध्ययन पूरा करवा कर आचार्य गिरिदत्त स्थविर ने वीतशोक को अभिधम्म पिटक की गंभीर शिक्षा का पारायण करवाया। नाम और रूप के पारस्परिक संबंधों की बारीकियां समझ में आयीं तो वीतशोक का हृदय आह्लाद-विभोर हो उठा।

इन दोनों पिटकों की परियत्तिजनक शिक्षा यानी शास्त्रीय शिक्षा के साथ-साथ आचार्य गिरिदत्त भिक्षु ने अपने राज-शिष्य को प्रतिपत्ति का भी अभ्यास कराया यानी साधना सिखायी। पढ़ी और सुनी हुई सच्चाई का दर्शन जब अनुभूति पर उतरने लगा तो चित्त श्रद्धा से प्रभावित होकर ऋजु होता चला गया। अपने परिवार और राजकाज की जिम्मेदारियों को निभाते हुए वीतशोक एक आदर्श गृहस्थ का जीवन जीने लगा।

समय बीतता गया। एक दिन बाल कतरने के लिए नाई आया। उसने सिर और मूंछ-दाढ़ी के बाल काटे, सँवारे और तब सदा की भांति वीतशोक के हाथ में दर्पण पकड़ा दिया। उसने दर्पण में अपना चेहरा देखा। देखा अब बाल पहले जितने काले और चिकने नहीं रह गये हैं। स्थान-स्थान पर पके बाल शरीर की जर्जरता का संदेश ले आये हैं। चेहरे पर भी जीर्णता के लक्षण उभरने लगे हैं।

यह देख कर वीतशोक के मन में बड़ा धर्म-संवेग जागा। अनेक पूर्व जन्मों की तरह क्या यह जीवन भी यों ही बीत जायगा। मानव का अनमोल जीवन

मिला और ऐसी मुक्तिदायिनी धर्म-साधना मिली। मुझे इसका लाभ उठाना चाहिए। मृत्यु का क्या भरोसा? कभी आ घेरे।

यों धर्मचेतना जागी तो दृढ़तापूर्वक धर्मसाधना में लग गया और शीघ्र ही स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त हो गया। जब काया और चित्त के परे की इंद्रियातीत अमृत अवस्था का साक्षात्कार हुआ तो धर्म-संवेग और घनीभूत हो उठा। मुझे मानव-जीवन का और इस मुक्तिदायिनी विद्या का पूरा-पूरा लाभ लेना है। अतः गृहस्थ जीवन छोड़ कर राजमहल के मिथ्या प्रलोभनों को त्याग कर सिर और चेहरे के बाल कटवा कर चीवर धारण किया और प्रव्रजित हो भिक्षु गिरिदत्त के मार्ग-निर्देशन में विपश्यना-साधना में लीन हो गया। सूक्ष्म सत्य दर्शन का अभ्यास करते-करते समय पा कर वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह हुआ तो सही माने में वीतशोक हो गया। अरहंत हो गया। मानव जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो गया और तब स्वतः उदान के ये शब्द मुखरित हुए;

'केश काटने के लिए नाई मेरे पास आया। उससे दर्पण ले कर मैंने अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण किया और तभी विपश्यना की अंतर्दृष्टि जागी';

तुच्छो कायो अदिस्सित्थ – इस जरा धर्मा, मरण धर्मा, क्षण-क्षण परिवर्तन धर्मा शरीर की निस्सारता, तुच्छता का कायानुपश्यना साधना से स्वयं प्रत्यक्ष दर्शन किया।

अन्धकारो तमो ब्यगा – अविद्या का सारा अंधकार विदीर्ण हो गया।

सब्बे चोळा समुच्छिन्ना – भव संस्कारों के सारे परदे उच्छिन्न हो गये। परम सत्य अनावरित हो गया।

नत्थि दानि पुनब्भवो – अब मेरे लिए पुनर्जन्म नहीं है। पुनर्जन्म के कारणभूत समस्त भव संस्कार ही उखड़ गये। भवनेत्री ही टूट गयी तो पुनर्जन्म कैसा?

सफेद बालों के दर्शन ने साधक को परम सत्य का दर्शन कर सकने की प्रेरणा दी। एक भाग्यशाली सम्राट अशोक को शुद्ध धर्म मिला तो सारा देश धन्य हो उठा। देश के अनगिनत लोगों को सच्ची सुख-शांति का मार्ग मिला।

राज्य परिवार के इक्के-दुक्के लोग अभागे रहे, धर्म-विमुख रहे। लेकिन बाकी सब मंगलमार्गी हुए। उनमें से अनेक इसी जीवन में मुक्त हुए, अरहंत हुए। वीतशोक उनमें से एक था।

९. कथै न होईः कीयै होई

धर्म के तीन सोपान हैं– **१. परियत्ति, २. पटिपत्ति ३. पटिवेधन।**

परियत्ति (पर्याप्ति) यानी धर्म के शास्त्रीय सैद्धांतिक पक्ष की पूरी-पूरी जानकारी। धर्मग्रंथों का अध्ययन करना, बहुश्रुत होना और उस पढ़े-सुने हुए धर्म को बुद्धि के स्तर पर चिंतन-मनन द्वारा भली प्रकार समझ लेना **परियत्ति** कहलाता है।

परंतु यदि कोई व्यक्ति **परियत्ति** यानी श्रुत ज्ञान और चिंतन ज्ञान तक ही रुका रह जाय, उसके आगे कदम न रखे तो सचमुच बड़ा अभागा है। **परियत्ति** ज्ञान तो पराया ज्ञान है, अपना नहीं। ऐसा व्यक्ति उस ग्वाले के समान है जो कि लोगों की गायें चराने ले जाता है और शाम को उनके घर ला कर बांध देता है। वह एक-एक गाय का ब्योरा जानता है। काली है, सफेद है, पीली है या चितकबरी है। गाभिन है, ब्यावल है। दूध देती है तो कौन कितने सेर दूध देती है? सारा विवरण जानता है। परंतु गाय परायी, गाय का दूध पराया। उसे तो एक बूंद भी चखने को नहीं मिलता।

ऐसा व्यक्ति उस रखवाले के समान है, जो सारे बाग का पूरा ब्योरा जानता है। कुल कितने पेड़ हैं? किस-किस फल के कितने-कितने पेड़ हैं? किस-किस पेड़ पर कितने-कितने फल लगे हैं? सब जानता है। पर पेड़ पराये, पेड़ के फल पराये। वह तो केवल रखवाला मात्र है। स्वयं एक फल भी नहीं चख सकता।

ऐसा व्यक्ति उस मजदूर के समान है जो कि अपने सिर पर बहुमूल्य वस्त्र-आभूषणों की संदूक उठाए चलता है। पर संदूक परायी, उसके भीतर का मालमत्ता पराया। वह उसे छू तक नहीं सकता। केवल भार ढोता है। यही दशा है **परियत्ति** धर्म तक सीमित रह जाने वाले व्यक्ति की।

कालेन धम्मस्सवनं – समय-समय पर धर्म का श्रवण करना मंगलदायी है और **कालेन धम्म साकच्छा –** समय-समय पर धर्म की चर्चा करना मंगलदायी है। परंतु वस्तुतः मंगलदायी तभी है जब कि उस श्रुत धर्म को धारण करने लगें। और यही धर्मपथ का दूसरा सोपान है जिसे **पटिपत्ति** (प्रतिपत्ति) यानी प्रतिपादन कहा गया। धर्म का प्रतिपादन किया जाय, धर्म धारण किया जाय।

जब कोई व्यक्ति शील-सदाचार का जीवन जीने लगता है और इसके लिए मन को वश में रखने का अभ्यास करने लगता है तो **पटिपत्ति** धर्म आरंभ हो जाता है जो कि आशुफलदायी होता है। ऐसा व्यक्ति अपना भी भला करता है तथा औरों का भी। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जब-जब शील-सदाचार से विमुख होता है तब-तब औरों की सुख-शांति भंग करता है और साथ ही साथ अपनी भी हानि करता है।

शील-सदाचार का जीवन जीना, आत्म-संयम का जीवन जीना, किसी संप्रदाय-विशेष का धर्म नहीं है। यह तो सब का धर्म है। सब के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। समझदार व्यक्ति धर्म के इस सार्वजनीन सर्वमांगल्यमय स्वरूप को समझ कर ही उसका प्रतिपादन आरंभ करता है।

परंतु ऐसा करने वाला व्यक्ति देखता है कि कदम-कदम पर कठिनाइयां आ रही हैं – बाहर से अधिक भीतर की कठिनाइयां। लंबे अतीत के स्वभाव के कारण मन बार-बार विकारों से विकृत हो उठता है और सदाचार का जीवन जीने के लिए बार-बार मन का दमन करना पड़ता है। हर दमन से भीतर ही भीतर गांठें बँधती हैं, तनाव बढ़ता है और परिणामतः व्याकुलता पैदा होती है।

तो समझदार व्यक्ति धर्म के तीसरे सोपान की ओर कदम उठाता है जिसे **पटिवेधन** यानी प्रतिवेधन कहते हैं। वह अपने चित्त के बारे में स्वयं अनुसंधान करना शुरू करता है। चित्त पर उत्पन्न होने वाले विकारों के बारे में अनुसंधान करता है। चित्त और शरीर के पारस्परिक संबंधों को जानने के लिए शरीर के बारे में अनुसंधान करता है। चित्त-विकारों के कारण प्रभावित होती हुई शारीरिक संवेदनाओं के बारे में अनुसंधान करता है। अनुसंधान के प्रारंभिक प्रयत्नों में घनीभूत सत्यों का ही सामना होता है। शरीर संबंधी सघनता और शरीर पर होने वाली संवेदनाओं की सघनता, चित्त और चित्तवृत्तियों की सघनता। यही प्रतिवेधन है जो कि स्थूल का विघटन करते-करते सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्य तक पहुँचाता है। शरीर, चित्तवृत्तियों के बारे में अंतिम सत्य का साक्षात्कार करवाता है।

प्रतिवेधन की इस प्रक्रिया में सहजभाव से मन के विकार दूर होने लगते हैं। मन की गांठें खुलने लगती हैं। विविध प्रकार से प्रतिवेधन करने वाली विपश्यना साधना द्वारा साधक एक-एक घनीभूत कर्म-ग्रंथि को धुन-धुन कर खोलता है। उसके तार-तार अलग कर लेता है तो विकार-विमुक्त हो जाता है, दुःख-विमुक्त हो जाता है। अंततः शरीर और चित्त के परे जो परम सत्य है,

उसका भी साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार धर्म की यात्रा पूरी कर मानव-जीवन सफल बना लेता है।

परियत्ति प्रतिपत्ति के लिए है। प्रतिपत्ति प्रतिवेधन के लिए है। प्रतिवेधन विकार-विमुक्ति के लिए है। धर्म का यह सार्वजनीन वैज्ञानिक पक्ष धारण करने पर ही फलदायी होता है, मंगलदायी होता है। इसकी केवल चर्चा करें, केवल श्रद्धापूर्वक श्रवण करें अथवा बुद्धि के स्तर पर चिंतन-मनन करें, पर धारण न करें तो कोई लाभ नहीं होता। इस संदर्भ में कबीर के यह बोल कितने सार्थक लगते हैं –

कथै, बदै, सुणै सब कोई।

– सब कोई कहते हैं, बोलते हैं, सुनते हैं; पर

कथै न होई, कीयै होई।

– कहने से कुछ नहीं होता, जो कल्याण होता है वह करने से ही होता है।

अतः साधको! केवल कह सुन कर न रह जायँ; आओ करें! धर्म धारण करें! परियत्ति के क्षेत्र से आगे बढ़ कर प्रतिपत्ति के और प्रतिवेधन के क्षेत्रों की ओर बढ़ें और सही माने में अपना कल्याण साध लें!

१०. क्या पड़ा है 'नाम' में?

पुरानी बात है। किसी व्यक्ति के मां-बाप ने उसका नाम पापक (पापी) रख दिया। बड़ा हुआ तो उसे अपना यह नाम बहुत बुरा लगने लगा। उसने अपने आचार्य से प्रार्थना की कि भंते! मेरा नाम बदल दें। यह नाम बड़ा अप्रिय है, क्योंकि बड़ा अशुभ है। अमांगलिक है। आचार्य ने उसे समझाया कि नाम तो केवल प्रज्ञप्ति मात्र के लिए होता है, व्यवहार जगत में पुकारने के लिए होता है। नाम बदलने से कोई मतलब सिद्ध नहीं होगा। कोई पापक नाम रख कर भी अपने सत्कर्मों से धार्मिक बन सकता है और धार्मिक नाम रख कर भी अपने दुष्कर्मों से पापी बन सकता है। मुख्य बात तो कर्म की है, नाम बदलने से क्या होगा?

पर उसने नहीं माना। आग्रह करता ही रहा तो आचार्य ने कहा; "अर्थ-सिद्धि तो कर्म सुधारने से ही होगी। परंतु यदि तू नाम भी सुधारना चाहता है तो जा, गांव नगर के लोगों को देख और जिसका नाम तुझे मांगलिक लगे, वह मुझे बता। तेरा नाम भी वैसा ही बदल दिया जायगा।"

पापक सुंदर नाम वालों की खोज में निकल पड़ा। घर से बाहर निकलते ही उसे शव-यात्रा के दर्शन हुए। पूछा, कौन मर गया? लोगों ने बताया– जीवक। पापक सोचने लगा, नाम तो जीवक है, फिर भी मृत्यु का शिकार हो गया।

आगे बढ़ा तो देखा, किसी दीन-हीन दुखियारी स्त्री को मार पीट कर घर से निकाला जा रहा है। नाम पूछा तो बताया गया– धनपाली। पापक सोचने लगा कि नाम धनपाली और पैसे-पैसे को मोहताज!

और आगे बढ़ा तो किसी राह-भूले व्यक्ति को लोगों से राह पूछते पाया। उस व्यक्ति का नाम पूछा तो बताया गया– पंथक। पापक फिर सोच में पड़ गया। अरे! पंथक भी पंथ पूछते हैं! पंथक भी पंथ भूलते हैं!

पापक वापस लौट आया। अब नाम के प्रति उसका आकर्षण या विकर्षण दूर हो चुका था। बात समझ में आ गयी। क्या पड़ा है नाम में? जीवक भी मरते हैं और अजीवक भी। धनपाली भी दरिद्र होती है और अधनपाली भी। पंथक भी राह भूलते हैं और अपंथक भी। सचमुच नाम की थोथी महत्ता निरर्थक ही है। जनम का दुखिया, नाम चैनसुख! जनम का अंधा,

नाम नयनसुख! रहे नाम पापक, मेरा क्या बिगड़ता है? मैं अपना कर्म सुधारूंगा। कर्म ही प्रमुख है। कर्म ही प्रधान है।

जो बात व्यक्ति के नाम पर लागू होती है, ठीक वही संप्रदाय के नाम पर भी लागू होती है। न बौद्ध संप्रदाय के सभी लोग बोधिसंपन्न होते हैं और न जैन संप्रदाय के सभी आत्मजित। न ब्राह्मण संप्रदाय के सभी ब्रह्मविहारी होते हैं और न ही इस्लाम के सभी समर्पित और शांत। जैसे हर व्यक्ति में अच्छाई-बुराई दोनों ही होती हैं, वैसे ही हर संप्रदाय में भी अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के लोग होते हैं। किसी भी संप्रदाय के न सभी लोग अच्छे हो सकते हैं और न सभी बुरे। परंतु सांप्रदायिक आसक्ति के कारण हम अपने संप्रदाय के हर व्यक्ति को सज्जन और पराये संप्रदाय के हर व्यक्ति को दुर्जन मानने लगते हैं और ऐसा कर अपना ही मन मैला करते हैं। कोई व्यक्ति बौद्ध, जैन, ईसाई या मुस्लिम कहलाने मात्र से न सज्जन हो जाता है और न दुर्जन। बौद्ध कहलाने वाला व्यक्ति परमपुण्यवान भी हो सकता है और नितांत पापी भी। यही बात सभी संप्रदायों पर समान रूप से लागू होती है। जैसे किसी व्यक्ति को पहचानने के लिए कोई नाम दिया जाता है, वैसे ही किसी समुदाय को पहचानने के लिए जाति या संप्रदाय का नाम दिया जाता है। इन नामों से गुणों का कोई संबंध नहीं। तेलभरे पीपे पर शुद्ध घी का लेबल लगा देने से तेल तेल ही रहता है, शुद्ध घी नहीं बन जाता। किसी सुंदर व्यक्ति का नाम कुरूप रख दें तो वह कुरूप नहीं बन जाता और किसी कुरूप को सुंदर कहने लगे तो वह सुंदर नहीं हो जाता। फूल को कांटा अथवा कांटे को फूल कहने लगें तो भी फूल फूल ही रहता है, कांटा कांटा ही।

कोई व्यक्ति रंक हो, पर नाम हो उसका राजन्य। ऐसा व्यक्ति जब तक इस बात को समझता है कि यह राजन्य नाम तो केवल संबोधन हित है, वस्तुतः तो मैं रंक ही हूं, तब तक तो वह होश में है। परंतु जिस दिन वह राजन्य के नाम का दंभ सिर पर चढ़ा कर, रंक होते हुए भी, अपने आप को राव राजा मानने लगता है और अन्य सभी को हेय दृष्टि से देखने लगता है तो वह प्रमत्त व्यक्ति लोगों के लिए उपहास का पात्र हो जाता है। परंतु जहां राजन्य नाम के हजारों लाखों रंक हों और सब के सब संगठित हो कर अपने आप को राव-राजा मानने लगें तथा बाकी सभी लोगों को हेय दृष्टि से देखने लगें तो पागलों का ऐसा गिरोह केवल उपहासास्पद ही नहीं बल्कि सारे समाज के लिए खतरे का कारण बन जाता है। ठीक यही दशा हमारी हो जाती है जब हम जातीयता, सांप्रदायिकता या राष्ट्रीयता की वारुणी चढ़ा कर प्रमत्त हो

उठते हैं और अपने आप को औरों से श्रेष्ठ मानते हुए औरों को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। ऐसी अवस्था में हम भी समाज के लिए खतरे का कारण बन जाते हैं। समाज की अशांति का कारण बन जाते हैं। वस्तुतः अपने आप के लिए भी खतरे का कारण बन जाते हैं, अपने आप के लिए भी अशांति का कारण बन जाते हैं। सुख-शांति से दूर पड़ जाते हैं, क्योंकि धर्म से दूर पड़ जाते हैं।

धर्म को जाति, वर्ण, समुदाय, संप्रदाय, देश, राष्ट्र की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। मानव समाज के किसी भी वर्ग में धर्मवान व्यक्ति हो सकता है। धर्म पर किसी एक वर्ग-विशेष का एकाधिकार नहीं हुआ करता। धर्म हमें नेक आदमी बनना सिखाता है। नेक आदमी नेक आदमी है। वह अपने संप्रदाय की ही नहीं, प्रत्युत सारे समाज की शोभा है। जो नेक आदमी ही नहीं है, वह नेक हिंदू या मुसलमान, नेक बौद्ध या जैन, नेक भारतीय या बर्मी, नेक ब्राह्मण या क्षत्रिय कैसे हो सकता है? और जो नेक आदमी हो गया वह सही माने में धर्मवान हो गया। उसे कोई किसी नाम से पुकारे, क्या फर्क पड़ता है? गुलाब गुलाब ही रहेगा, नाम बदल देने से उसकी महक में कोई अंतर नहीं आयगा। जिस बगिया में भी खिलेगा, न केवल उसे बल्कि आसपास के सभी स्थानों को अपनी सुरभि से महकायेगा ही। अतः मुख्य बात है धर्मवान बनने की, नेक इन्सान बनने की, नाम चाहे जो रहे। बगिया चाहे जिस समुदाय की हो। उस पर चाहे जिस नाम का बोर्ड लगा हो। फूल खिलने चाहिए, सौरभ बिखरना चाहिए।

सांप्रदायिकता का और जातीयता का रंगीन चश्मा उतार कर देखेंगे तो ही धर्म का शुद्ध रूप समझ में आयगा, अन्यथा अपने-अपने संप्रदाय का रंग-रोगन ही, नाम-लेबल ही सारी प्रमुखता ले लेगा। धर्म का सार महत्त्वहीन हो जायगा। धर्म की कसौटी पर किसी व्यक्ति को कस कर देखना हो तो यह नहीं देखेंगे कि यह व्यक्ति किस संप्रदाय में दीक्षित है? अथवा किस दार्शनिक मान्यता को मानता है? अथवा किन रूढ़ियों को पालता है? वरना यह देखेंगे कि इस व्यक्ति का आचरण कैसा है? जीवन-व्यवहार कैसा है? कुशल है या नहीं? पावन है या नहीं? आत्ममंगलकारी और लोकमंगलकारी है या नहीं? यदि है तो वह धर्मवान ही है। जितना-जितना है, उतना-उतना धर्मवान है। यदि नहीं है तो उस व्यक्ति का धर्म से कोई संबंध नहीं है। भले वह अपने आप को चाहे जिस संप्रदाय का कहे, चाहे जैसा आकर्षक बिल्ला लगाये फिरे। धर्म का इन सांप्रदायिक बिल्लों से क्या सरोकार? कोरे नाम से, बिल्लों से हमें क्या

मिलने वाला है? किसी को भी क्या मिलने वाला है? दूध का लेबल जिस बोतल पर लगा हो और उस बोतल में शराब भरी हो तो उसे पी कर हम अपनी हानि ही करेंगे। यदि उसमें पानी भरा हो तो उसे पीकर प्यास भले बुझा लें, परंतु बलवान नहीं बन सकेंगे। बलवान बनना हो तो निखालिस दूध ही पीना होगा। बोतल का रंग-रूप या उस पर लगा लेबल चाहे जो हो। इन नाम और लेबलों में क्या पड़ा है? सांप्रदायिकता, जातीयता और राष्ट्रीयता का भूत सिर पर सवार होता है तो केवल बोतल और बोतल के नाम और लेबल को ही सारा महत्त्व देने लगते हैं। दूध गौण हो जाता है। धर्म गौण हो जाता है।

आओ, इन नाम और लेबलों से ऊपर उठ कर अपने आचरण सुधारें। वाणी को संयमित रखते हुए झूठ, कडुवापन, निंदा और निरर्थक प्रलाप से बचें। शरीर को संयमित रखते हुए हिंसा, चोरी, व्यभिचार और नशा-सेवन से बचें। अपनी आजीविका को शुद्ध करें। लोक-अहितकारी व्यवसायों से बचें। मन को संयमित रखते हुए उसे वश में रखना सीखें। उसे सतत सावधान, जागरूक बने रहने का अभ्यास कराएं और प्रतिक्षण घटने वाली घटना को जैसी है, वैसी साक्षीभाव से देख सकने का अभ्यास बढ़ा कर अंतस की राग, द्वेष और मोह की ग्रंथियां दूर करें। चित्त को नितांत निर्मल बनायें। उसे अनंत मैत्री और करुणा से भरें। बिना नाम-लेबल वाले सार्वजनीन धर्म का यही मंगल-विधान है।

११. मतलब की बात करें

भदंत आनंद कौसल्यायनजी का विनोदी स्वभाव बहुत प्रसिद्ध है। निर्मल विनोदी वही होता है, जिसके विनोद में कटुता नहीं होती। ऐसा विनोदी अपने आप पर भी विनोद करके उन्मुक्त हँसी हँस सकता है। आनंदजी के ऐसे विनोदी स्वभाव से मेरा पुराना परिचय रहा है। इसलिए नासिक शिविर के बाद जब मुंबई लौटने का प्रोग्राम बना और आनंदजी ने भी साथ चलने की इच्छा प्रकट की तो मन बड़ा प्रसन्न हुआ कि यह तीन-चार घंटे की यात्रा अच्छी कटेगी। धर्म-चर्चा के साथ-साथ उनकी विनोदप्रियता यात्रा को सुखद बना देगी और सचमुच यही हुआ भी। किसी-न-किसी धर्म प्रसंगवश वे अपने जीवन का कोई एक रोचक संस्मरण सुना देते, जिससे देर तक मन प्रफुल्लित रहता। ऐसा ही एक संस्मरण सुनाते हुए उन्होंने बताया – "पुरानी बात है। कानपुर के किसी एक बड़े व्यापारी के यहां ठहरा था, जो कि कट्टर आर्य समाजी था और बड़ा ईश्वरभक्त भी था। रोज प्रातःकाल वह अपने दुकान के सभी कर्मचारियों को घर पर एकत्र करता, हवन-यज्ञ, मंत्र-जाप और पाठ करने के बाद कुछ देर धर्म-चर्चा करता। यदि संयोगवश बाहर से कोई विद्वान आया होता तो उसी का धर्म-प्रवचन रखा जाता, अन्यथा सेठजी स्वयं धर्म-उपदेश देते। उस दिन मुझे ही धर्मप्रवचन के लिए कहा गया। उन दिनों मैं नया-नया बौद्ध भिक्षु बना था, इसलिए बड़ा जोश था। अतः उन ईश्वरवादियों के सामने ईश्वर के अस्तित्व का खंडन करने में मेरे पास जितने तर्क एकत्र थे, उन सबका प्रयोग किया। खूब जोश-खरोश से भरा हुआ अपना वह लंबा प्रवचन जब समाप्त किया तब सेठजी ने हाथ जोड़ कर कहा, "महाराज! यह तो हुआ, अब जरा मतलब की बात हो जाय, कुछ धर्म की बातें हो जायँ।" संस्मरण सुना कर आनंदजी ने हँसते हुए कहा कि मुझ पर घड़ों पानी पड़ गया। उस दिन मुझे जितना हतप्रभ होना पड़ा, उतना मैं कभी नहीं हुआ। मुझे लगा कि मेरी सारी ज्ञान-गरिमा, सारा तर्क-कौशल इस आदमी ने एक ही वाक्य में निरर्थक साबित कर दिया।

सचमुच! धर्म का सार कोरी तर्कबाजी में कहां धरा है? धर्म के क्षेत्र में बुद्धि का उपयोग अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा धर्म अंध-श्रद्धा और मिथ्या दृष्टियों का गढ़ बन जाय। लेकिन धर्म को केवल मात्र तर्कजन्य बुद्धि-किलोल का ही रूप दे दें तो भी वह निष्प्राण हो जाय। जिस प्रकार तर्कों के बल पर

ईश्वर के अस्तित्व का खंडन कर देना मात्र ही धर्म नहीं है, वैसे ही तर्कों के बल पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर देना मात्र भी धर्म नहीं है। और जहां धर्म नहीं है, वहां सचमुच मतलब की बात नहीं है। निरर्थक थूक-बिलोवन है, जिसमें कोई सार नहीं, कोई नवनीत नहीं। जिसमें किसी का कोई हित-सुख नहीं, किसी का कोई मंगल-कल्याण नहीं। किसी को कोई प्राप्ति उपलब्धि नहीं। ईश्वरवादियों और निरीश्वरवादियों के अथवा ईश्वरवादियों में भी त्रैत, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत वादियों के या सगुण साकार, सगुण निराकार अथवा निर्गुण निराकार वादियों के पारस्परिक वादविवादों में उलझ कर किसी को क्या मिल जाने वाला है? हर दार्शनिक विवाद बुद्धि-किलोल है, दिमागी द्वंद्व है, जिसमें जीतने वाला अभिमान से अपना सिर सुजा लेता है और हारने वाला अपमान से अपना दिल जला लेता है। दोनों ही विग्रह बढ़ाने के कारण बनते हैं। विग्रह से आज तक किसी को कोई लाभ हुआ नहीं, कोई शांति मिली नहीं। अतः इस दिमागी कसरत की बात छोड़ कर मतलब की बात करें, लाभ की बात करें, सही धर्म की बात करें।

एक रोगी के मतलब की बात यही है कि वह अपना सही रोग जाने, रोग का कारण जाने, इस तथ्य को जाने कि रोग का कारण दूर करके रोग निवारण किया जा सकता है और फिर उस रोग-निवारण की विधि जान कर उसका प्रयोग करे और रोग-मुक्त बने। उस रोगी को भिन्न-भिन्न प्रकार की कलाबाजियों वाला सरकस का खेल दिखाया जाय तो थोड़ी देर के लिए वह अपने रोग को भूल भले जाय, परंतु इससे उसके रोग का निवारण तो नहीं ही हो सकता। इसी प्रकार नाना प्रकार के दुःखों से संतप्त प्राणी के सामने दार्शनिक वाद-विवादों की दिमागी कसरतों का खेल उसे कुछ देर के लिए चकित-विस्मित भले बनाये रखे, परंतु इससे उसके दुःखों का निवारण तो नहीं ही हो सकता।

दुःखी व्यक्ति के मतलब की बात तो यह है कि वह अपने दुःख को जाने, अपने दुःख के मूलभूत कारण को जाने और उस कारण को दूर कर सकने वाले किसी साधन का प्रयोग करके स्वयं दुःख-मुक्त हो जाय। यदि इन दार्शनिक विवादों में हमारे दुःखों का कारण और उसके निराकरण का राज समाया हुआ होता तो हमारे लिए सचमुच यही करणीय था कि हम दार्शनिक विवाद द्वारा अपने दुःख का निवारण कर लेते। परंतु ऐसा तो होता नहीं। सिद्धांतों के क्षेत्र में चाहे कोई ईश्वरवादी है या निरीश्वरवादी, चाहे कोई द्वैतवादी है या अद्वैतवादी, चाहे कोई सगुण साकारवादी है या निर्गुण निराकारवादी, वास्तविकता के क्षेत्र में तो वह दुःख-संतप्त ही है। जन्म का दुःख, रोग का

दुःख, बुढ़ापे का दुःख, मृत्यु का दुःख, अनचाही बातों के होने का दुःख, मनचाही बातों के न होने का दुःख, क्रोध का दुःख, ईर्ष्या का दुःख, दौर्मनस्य का दुःख, भय का दुःख, राग-रंजन का दुःख, द्वेष-दूषण का दुःख, मोह-विमूढ़न का दुःख – इस प्रकार के अनेकानेक दुःखों से कोई मुक्त नहीं। किसी संप्रदायविशेष में दीक्षित होने मात्र से कोई आज तक दुःख-विमुक्त हुआ नहीं। बौद्धिक स्तर पर किसी मान्यताविशेष को स्वीकार कर आज तक कोई दुःख-मुक्त हुआ नहीं। किसी भी मत-मतांतर का व्यक्ति क्यों न हो, किसी भी जाति-वर्ग का व्यक्ति क्यों न हो, किसी भी समुदाय-संप्रदाय का व्यक्ति क्यों न हो, किसी भी देश-काल का व्यक्ति क्यों न हो। कोई व्यक्ति किसी देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म के अस्तित्व को मानने वाला हो या न मानने वाला हो; यदि सचमुच दुःख मुक्त होना है तो उसे अपने दुःखों को जानना ही होगा, अपने दुःखों के मूलभूत कारण को जानना ही होगा और किसी ठीक उपाय द्वारा उस कारण का उन्मूलन करना ही होगा। कारणों के उन्मूलन बिना दुःख का उन्मूलन संभव नहीं है। किसी कपोल-कल्पना में मन टिका कर कुछ समय के लिए दुःख भुलाया जा सकता है, ठीक वैसे ही जैसे कि शराब की प्याली के नशे से कुछ देर के लिए गम-गलत किया जाता है। परंतु रोग की पीड़ा को भुला देना या दुःख को भुला देना, रोग का इलाज नहीं, दुःख का इलाज नहीं।

दुःख के इलाज की खोज बुद्धिजन्य तर्क-जालों में नहीं, कल्पना-जन्य मन-मोदकों में नहीं, भावुकता-जन्य आवेश-उन्मादों में नहीं। जैसे ही दुःख का साक्षात्कार करके उसे जान लिया, वैसे ही सच्चाई का धर्म-चक्र चल पड़ा। दुःख को अपने सही स्वरूप में जान लेने वाला व्यक्ति दुःख के कारण को समझने में देर नहीं लगाता। जहां दुःख का मूलभूत कारण समझ में आया, वहीं उसके निवारण का रास्ता भी स्वतः समझ में आ जाता है और उस रास्ते को अपना कर समझदार आदमी दुःख-मुक्त हो ही जाता है। समस्त दुःखों के आत्यंतिक निरोध-स्वरूप परम पद निर्वाण को प्राप्त कर ही लेता है।

बात बड़ी सहज है, बड़ी सरल है, परंतु फिर भी अपनी-अपनी अंध-मान्यताओं के चिपकाव के कारण इस सरल-सी सच्चाई को भी हम देखना नहीं चाहते। यथार्थ की ठोस धरती पर हम कदम रखना ही नहीं चाहते। उससे परे किसी कल्पना-लोक में उड़ते रहने की हमारी आदत पड़ गयी है। कटु, कठोर सत्य से आंख मूंदे रहना और मिथ्या, मधुर कल्पना में डूबे रहना, ऐसा स्वभाव हम जैसे सामान्य लोगों का सदा से ही रहता आया है।

दो हजार पांच सौ वर्ष पहले उस विरक्त राजकुमार सिद्धार्थ को इन्हीं चार कल्याणकारी सच्चाइयों का बोध हुआ कि यह दुःख है, यह दुःख का कारण है, यह परम सुख निर्वाण है और यह परम सुख निर्वाण प्राप्त करने का उपाय है। जब उसने इन चारों सच्चाइयों को जान कर स्वयं दुःख-विमुक्ति प्राप्त की तो उसका मन हुआ कि यह इतनी सहज सरल विधि अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचनी ही चाहिए। परंतु फिर उसने सोचा कि यह आमोद-प्रमोद में प्रमत्त रहने वाली जनता, यह विवाद-विग्रह में उलझी रहने वाली जनता, यह कपोल-कल्पनाओं में आसक्त रहने वाली जनता, जीवन की इन कठोर, परंतु कल्याणकारी सच्चाइयों की ओर कैसे अभिमुख होगी? ऐसी जनता को सही बात समझाने के लिए किया गया हर प्रयत्न व्यर्थ ही साबित होगा। फिर अगले ही क्षण लोक-मंगल का भाव लिये हुए मन में असीम करुणा का ज्वार जागा और अंतर की उस असीम करुणा ने कहा कि कितने लोग ऐसे हैं, जिनकी आंखों पर मोहमूढ़ता का, अविद्या का बड़ा झीना-सा ही पर्दा पड़ा हुआ है। विद्या के नन्हें से आघात से यह पर्दा विदीर्ण हो जायगा और उनका मोह दूर होगा। उन्हें सही बात समझते देर नहीं लगेगी। यदि उन्हें इस सत्य-ज्ञान से वंचित रखा गया तो बेचारे तबाह हो जायेंगे। अविद्या का यह झीना-सा पर्दा मैल चढ़ा कर और घना हो उठेगा। ऐसे लोगों के लिए तो अमृत का द्वार शीघ्र से शीघ्र खुल जाना ही चाहिए। इस करुण चेतना से ही उन्होंने यह मंगल उद्घोष किया;

अपारुता तेसं अमतस्स द्वारा,
ये सोतवन्तो पमुञ्चन्तु सद्धं।

– जो कान वाले हैं, श्रद्धा से सुनें, उनके लिए अमृत का द्वार खुला है।

उस महापुरुष के इस मंगल-घोष का हम आज भी लाभ उठायें। सचमुच अमृत का द्वार खुला है। कान वाले सुनें और आंख वाले देखें। समझदार लोग इसका लाभ उठायें।

सच्चाई के रास्ते ही परम सत्य की उपलब्धि हो सकेगी। कल्पनाओं के स्वप्न-लोक से जाग कर यथार्थ की ठोस धरती पर कदम रख कर चलते हुए ही अंतिम लक्ष्य तक पहुँच पायेंगे। दुःखों का सामना करके ही दुःखों की जड़ खोद पायेंगे।

तो आओ, समझें कि हमारे वास्तविक दुःख क्या हैं! आओ, समझें कि हमारे दुःखों का वास्तविक कारण क्या है? आओ, समझें कि इन दुःखों से

अवश्य ही विमुक्ति प्राप्त हो सकती है। आओ, समझें कि इन दुःखों के वास्तविक कारण को दूर करके विमुक्ति तक पहुँचने का रास्ता कौन-सा है? उसे केवल समझ कर ही न रह जायँ, बल्कि कदम-कदम उस पर चलते हुए और अपने दुःखों से थोड़ी-थोड़ी भी मुक्ति पाते हुए हम विमुक्ति के द्वार तक जा पहुँचे। सचमुच विमुक्ति का द्वार हमारे लिए खुला ही है।

विमुक्ति के द्वार तक पहुँचने के लिए फिजूल बातों में न पड़ें, निरर्थक वाद-विवादों में न उलझें, कोरी कपोल-कल्पनाओं में न फँसें, मतलब की बात करें, धर्म की बात करें, सच्चाई की बात करें, दुःख-निरोध की बात करें। बुराई और बुराई का कारण समझें। भलाई और भलाई का उपाय समझें और बुराई दूर कर तथा भलाई प्राप्त कर, अपना हित सुख साधें। अपना मंगल-कल्याण साधें।

१२. सफल जीवन

समयः १ सितंबर १९७४, प्रातःकाल।

स्थानः तिब्बती पुस्तकालय, धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश।

भदंत दलाईलामा के आमंत्रण पर आयोजित दस दिवसीय विपश्यना शिविर का सुखद समापन।

मध्य बीसी की उम्र की एक युवा-युगल जोड़ी। पहले ही शिविर में सम्मिलित हो कर दोनों ने अनुभव किया कि सचमुच अविद्या की खोल तोड़ कर हमारा नया जन्म हुआ है। आज हमारा सही जन्म दिवस है। आध्यात्मिक जन्म दिवस!

समयः १ सितंबर १९८३, प्रातःकाल।

स्थानः रूसी सीमा के अंतरिक्ष में उड़ता हुआ कोरियन हवाई जहाज।

मिसाइल विस्फोट द्वारा अनेक यात्रियों सहित इन दोनों युवा दंपति की शरीर-च्युति।

प्राणीमात्र का जीवन कितना अनिश्चित है। मृत्यु न जाने कब आ जाय? कैसे आ जाय? युवा-वृद्ध, पुरुष-नारी सभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। सभी कितने असहाय हैं। जब काल आ जाय तो सब कुछ छोड़ कर चल देना पड़ता है। भले-बुरे कर्म-संस्कारों के अतिरिक्त और कुछ भी साथ नहीं जाता।

सभी दृश्य जीवों में मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। मनुष्य को ही प्रकृति ने ऐसी शक्ति दी है कि वह स्वमुखी हो कर अपने भीतर की सच्चाइयों को साक्षीभाव से देख सकता है। इस प्रकार समता में स्थापित हो कर नए कर्म संस्कार बनाने बंद कर सकता है और पुरानी कर्म-ग्रंथियों को काट कर मुक्त हो सकता है। अन्य कोई प्राणी ऐसा कर सकने में असमर्थ है। अतः यदि मनुष्य अपनी इस अद्भुत, असीम, नैसर्गिक शक्ति से अज्ञात रह कर इसका उपयोग नहीं करता तो मनुष्य का-सा जीवन जीते हुए भी वस्तुतः मनुष्य जीवन नहीं जी पाता। मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह अपने अंतर्मन की गहराइयों का यथासंभव निरीक्षण करके तत्र वहां संगृहीत विकारों को दूर कर ले।

इस कसौटी पर कस कर देखें तो अल्पायु में युवा दंपति आइरिन और स्टुअर्ट स्टेकलर ने मनुष्य-जीवन सार्थक किया।

दोनों-के-दोनों जवानी में कदम रखते ही माता-पिता, भाई-बहनों से मुँह मोड़ कर सत्य की खोज में हिप्पियों के गिरोह में सम्मिलित हो गये। हिप्पीकल्ट के सारे दुर्गुणों के साथ-साथ सत्य की खोज की उत्कट अभिलाषा लिये हुए दोनों भारत आये। अनेक आश्रमों में भटकते हुए अंततः विपश्यना के संपर्क में आये और शिविर में शामिल हो कर देखा कि जिसकी खोज थी वह मार्ग प्राप्त हो गया है। सचमुच उनके लिए यह नया जीवन आरंभ हुआ था।

शुद्ध धर्म के राजपथ पर पहला कदम रखते ही दोनों ने अपना जीवन अत्यंत श्रद्धा और आस्थापूर्वक धर्म को समर्पित कर दिया। अब धर्म-पथ पर आगे ही बढ़ना है, पीछे नहीं हटना है, और न किसी अंधी गली की ओर मुड़ना है। इस दृढ़ संकल्प के साथ दोनों-के-दोनों नौ वर्ष तक उत्साहपूर्वक धर्म पथ पर कदम-कदम आगे बढ़ते ही गये।

विपश्यना के पहले शिविर से ही हिप्पीकल्ट के बाहर निकल आये। शीघ्र ही सारे दुर्गुणों से छुटकारा पा लिया। न नशा-पता, न उन्मुक्त यौन-संबंध। शुद्ध, सात्त्विक, शील-संपन्न जीवन जीने लगे। कुछ समय अपने देश अमेरिका में और कुछ समय इंगलैंड में रहने के बाद सम्यक आजीविका की खोज में दोनों जापान गये और दोनों ही वहां के एक प्रसिद्ध कॉलेज में अंग्रेजी भाषा के अध्यापन का काम करने लगे और जीवन भर करते रहे।

सुबह-शाम की नियमित साधना कभी नहीं छूटी। वर्ष में एक से अधिक शिविरों में भाग लेते रहे। परिणामस्वरूप प्रभूत चित्त-विशुद्धि उपलब्ध हुई। मानस में मैत्री-करुणा के सद्भाव स्वतः जगने लगे। संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख व्याप्त है। लोगों को ऐसा मंगल-मार्ग प्राप्त हो जाय तो वे सचमुच दुःख-विमुक्त होंगे, इस कल्याणकामना से हृदय भर उठा। अधिक-से-अधिक रोगी लोगों को विपश्यना की कल्याणकारिणी औषधि कैसे प्राप्त हो, इन्हीं भावनाओं से विभोर हो कर निःस्वार्थ लोकसेवा में लग गये। कैलीफोर्निया में सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट बना तो उसके ट्रस्टी के रूप में, इंगलैंड में ट्रस्टी के रूप में और फिर जापान में ट्रस्ट बना तो उसके ट्रस्टी के रूप में लोक-मंगल का सेवाकार्य करते ही रहे।

गृहस्थ-जीवन की सभी जिम्मेदारियों को निभाते हुए बचा हुआ समय आत्म-ध्यान और लोकसेवा में ही बिताते रहे। **सब्बरसं धम्मरसो जिनाति** – धर्म का रस ऐसा चखा कि उसने सारे रसों को जीत लिया। वैभव-विलास एवं

आमोद-प्रमोद के सभी ऐंद्रिय सुख फीके लगने लगे। अब तो काम के समय काम और बाकी समय अंतर्मुखी ध्यान अथवा बहिर्मुखी जन-सेवा। नौकरी से जब छुट्टी मिलती तो स्वयं विपश्यना करते अथवा धर्मवाणी का अध्ययन करते अथवा औरों के लिए शिविर लगाने में सहयोग देते।

सद्धर्म के प्रति असीम निष्ठाभाव, धर्म के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष की समुचित जानकारी, विपश्यना साधना के प्रति अटूट लगन और जीवन में आयी सहज सात्त्विकता को देख कर ही पिछले फरवरी (१९८३) महीने में हैदराबाद के शिविरों के दौरान दोनों को सहायक आचार्य की जिम्मेदारी सौंपी गयी। दोनों अत्यंत विनम्र भाव से इस जिम्मेदारी को भी निभाते हुए धर्मसेवा में लग गये।

गत अप्रैल महीने में कालेज की दस दिन की छुट्टी हुई तो जापान में ही एक शिविर लगाया। जुलाई और अगस्त में पुनः दो महीने की छुट्टी मिली तो एक शिविर मैसाचुसेट्स के विपश्यना केंद्र में लगा कर इंगलैंड के शिविर में सहयोग देने चले आये।

साधकों के इस बृहत शिविर का प्रशिक्षण अधिकांशतः इन दोनों ने ही किया। इस शिविर के तुरंत बाद अगस्त महीने के उत्तरार्ध में दस दिन का एक शिविर फ्रांस में लगाया। सभी शिविरों के साधकों ने इन नए आचार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। दोनों की सहिष्णुता, धैर्य और मैत्रीभाव के कारण सदा खिले हुए हँसमुख चेहरों ने साधकों को अत्यंत प्रभावित किया।

फ्रांस का शिविर पूरा करके अपने-अपने जननी-जनक और धर्म माता-पिता से मिलने फिर ४-५ दिन के लिए अमरीका आये और न्यूयार्क से कोरिया होते हुए जापान के लिए रवाना हुए, जहां कि उन्हें पुनः अध्यापन के काम में लग जाना था। परंतु इस बीच अंतर्राष्ट्रीय राजनैतिक कुटिलता और नृशंस हिंसा के शिकार हो गये।

इन दो धर्म-प्राणियों की जीवन-आहुति से विश्व के राजनेताओं में सद्बुद्धि जागे। राजनैतिक कुटिलता और हिंसा से न आत्म-शांति उपलब्ध होगी, न विश्व-शांति। न आत्म-कल्याण होगा, न विश्व-कल्याण! मैत्री, सरलता और सद्भाव ही शांति का, कल्याण का एकमात्र मार्ग है।

सभी साधक इस आदर्श धर्म-दंपति के सात्त्विक जीवन से प्रेरणा प्राप्त करें! धर्म-पथ पर अग्रसर हों! यही कल्याण कामना है।

१३. धन्य विपश्यी!

छियासी वर्ष की पकी उम्र में विपश्यना के विशिष्ट साधक श्री रतिलालभाई मेहता ने दि. २६-८-८७ को सम्यक समाधि अवस्था में अपने प्राण छोड़े। विपश्यना का जैसा आदर्श जीवन जिया वैसी ही आदर्श मृत्यु पायी।

श्री रतिभाई ३१-१०-७१ को बीकानेर के मेहता-भवन में लगे शि. क्र. ४१ में पहली बार सम्मिलित हुए। यहीं उन्हें जिसकी खोज थी वह राह मिल गयी।

कुछ दिन पूर्व उनकी धर्मपत्नी का रेल-दुर्घटना में देहांत हुआ था। उनके मन पर इसका बहुत बड़ा क्षोभ था। मानसिक शांति के लिए वे अनेक आश्रमों, उपाश्रयों, मंदिरों, तीर्थों, गुरुओं, संन्यासियों और मुनियों की शरण गये, परंतु इस भटकन में उन्हें कुछ नहीं मिला। विपश्यना में जो पाना था, सब पा लिया। पहले ही शिविर में शील, समाधि, प्रज्ञा के शुद्ध धर्म के प्रति जो श्रद्धा जागी वह दिनोंदिन पुष्ट ही होती गयी। समता और वीतरागता के उपदेश तो बहुत सुने थे, परंतु उन्हें वस्तुतः इसी जीवन में उपलब्ध कर सकने की सही वैज्ञानिक विधि कहीं नहीं मिली थी। धर्म का सैद्धांतिक पक्ष तो अनेक जगह मिला, पर प्रयोगात्मक पक्ष विपश्यना साधना में ही प्राप्त हुआ। अतः इस पथ पर निष्ठापूर्वक चल पड़े और पग-पग आगे बढ़ते ही गये। पीछे मुड़ कर नहीं देखा। राजमार्ग छोड़ कर अन्य किसी अंधी गली में नहीं भटके।

साधना करते हुए दो वर्ष भी नहीं बीते कि जो कुछ उन्हें प्राप्त हुआ था, उससे भावविभोर हो उठे। मन में धर्म संवेग जागा कि मेरे परिवार का प्रत्येक व्यक्ति इस धर्मगंगा में डुबकी लगा कर अपना कल्याण साधे। अपनी संतान को भौतिक सुख-संपदा बांट कर जो प्रसन्नता हुई, उससे कहीं अधिक प्रसन्नता इस आध्यात्मिक संपदा को बांटने में मानी। परिणामतः हैदराबाद के कुसुमनगर वाले अपने बँगले और फैक्ट्री में १३-७-७३ को विपश्यना का एक शिविर लगवाया, जिसमें अत्यंत आग्रहपूर्वक अपने परिवार के सभी सदस्यों को आमंत्रित किया। अधिकांश आये (जो थोड़े बचे वे अगले शिविरों में आये)। परिवार के सभी सदस्य पुण्यशाली थे। अतः जो आया वही लाभान्वित हुआ। सभी वयस्क शिविर में साधना करते रहे– पुरुष भी, महिलाएं भी, और

रतिभाई पास वाले एक अन्य बँगले में उनके बच्चों की देखभाल करते रहे, ताकि साधकों को बच्चों की ओर से कोई चिंता न रहे। अपने परिवार को धर्म का अनमोल रस चखा कर रतिभाई की खुशियों का ठिकाना न था।

धर्म का **एहिपस्सिको** पक्ष और प्रबल होने लगा। ऐसा धर्मरस सभी दुखियारे चखें! सबका मंगल हो! सबका कल्याण हो! इगतपुरी में विपश्यना केंद्र बन रहा है तो दक्षिण के लोगों की सुविधा के लिए एक केंद्र हैदराबाद में भी हो! यह धर्म-संवेग इतना प्रबल हुआ कि अपने परिवार की ढाई एकड़ भूमि दान देकर (जो कि कालांतर में तीन-चोकड़ और बढ़ा दी गयी) धम्मखेत्त में विपश्यना साधना केंद्र की स्थापना की गयी। इसका उद्घाटन धम्मगिरि से भी पूर्व ४-९-७६ को हुआ। जिस खेत में भौतिक वनस्पति उगायी जाने वाली थी, अब उसमें धर्म की फसल उगने लगी और धम्मखेत में सैकड़ों लोगों को धर्म-फल मिला, मिल रहा है और पीढ़ियों तक मिलता ही रहेगा।

साधक जैसे-जैसे विपश्यना के विशुद्धि-मार्ग पर बढ़ता है और अपने भीतर की कर्म-ग्रंथियां उन्मूलित करता है, वैसे-वैसे औरों के प्रति निर्मल मैत्री अधिकाधिक प्रबल होती जाती है। रतिभाई अपनी साधना के लिए धम्मगिरि भी आते रहे। वहां उन्होंने देखा कि धर्मचैत्य की छत्रछाया में जो शून्यागार हैं, उनमें साधकों को एकाकी ध्यान का अपूर्व लाभ मिलता है। इसे देख कर रतिभाई के मन में तीव्र धर्म-संकल्प जागा। धम्मखेत ऐसे साधन से वंचित न रहे। उन्होंने शीघ्र ही वहां एक तिमंजिले चैत्य का निर्माण करके दान दिया, जिसमें कि अन्य साधकों के सहयोग से चौहत्तर शून्यागारों की सुविधा बनी।

अन्य साधकों का भला होते देख कर इस मंगल मैत्रीमय साधक का रोम-रोम प्रसन्नता से भर उठता था। वह खूब जान गया था कि मेरे धन का इससे अधिक सदुपयोग नहीं हो सकता और जन्म-जन्म के दुःखों को काटने वाली विपश्यना साधना के दान से अधिक किसी दुखियारे की कोई सेवा नहीं हो सकती।

ऐसा मंगलभावी तपस्वी साधक जीवन के अंतिम वर्षों में कैंसर जैसे भयंकर रोग से पीड़ित हुआ। गुदा-द्वार से आंतों की ओर बढ़ता हुआ यह कैंसर का रोग लीवर और फेफड़े तक को अपने शिकंजे में जकड़ने लगा। मल त्याग के लिए डाक्टरों ने एक कृत्रिम मार्ग तैयार किया जिसमें से मल एक थैली में रिसता रहे। ऐसी घोर नारकीय यंत्रणा और यह विपश्यी साधक उसे मुस्करा कर अंतिम समय तक सहता रहा। जब कभी उससे पूछता कि पीड़ा कैसी है?

तो यही उत्तर मिलता, "किसी पूर्व दुष्कर्म की उदीरणा है। समता से देख रहा हूं। यही तो सिखाया है आपने।" विपश्यना साधना ऐसे साधक को पा कर धन्य हुई। साधक ऐसी साधना को पा कर धन्य हुआ।

सचमुच कोई बड़ा गंभीर दुष्कर्म जो कि भविष्य में नारकीय जीवन देने वाला था, अब इस रूप में प्रकट हो रहा था और साधक थोड़े में ही अपना भुगतान चुका कर उसकी निर्जरा कर रहा था। भगवान ने ठीक ही कहा कि मुट्ठी-भर नमक एक कटोरी जल में डाल दिया जाय तो वह पीने लायक न रहे। लेकिन वही मुट्ठी-भर नमक विशाल नदी की बहती धारा में डाल दिया जाय तो कोई असर नहीं होता। सच्चे विपश्यी साधक का यही धर्मबल है कि बड़ी से बड़ी नारकीय यंत्रणा भी वह मुस्करा कर झेलता है और अपने पूर्व कर्मों का ऋण चुकाता है।

जीवन के अंतिम दिनों दूर-दूर तक देश-विदेश में फैले हुए परिवार के किसी सदस्य से मिलने की कोई आकांक्षा नहीं, आसक्ति नहीं, छटपटाहट नहीं। बार-बार यही कहते रहे कि अब सारी माया छूट गयी है। कहीं कोई राग नहीं, द्वेष नहीं। हां, अत्यंत रुग्ण अवस्था में अविनाश नाम के किसी व्यक्ति को याद किया। जीवन में कभी इस व्यक्ति के कुछ पैसे इनकी ओर रह गये थे, जिसे यह चुकाना चाहते थे। यह ऋण अगले जन्म में नहीं ले जाना चाहते थे। पर वह व्यक्ति मिल नहीं रहा था। परिवार वालों ने आश्वासन दिया कि वह जहां कहीं मिलेगा, उसके हिस्से का धन अवश्य दे दिया जायगा। इसके अतिरिक्त अन्य किसी सांसारिक व्यक्ति का स्मरण नहीं हुआ।

रतिभाई को भगवान महावीर की समता और वीतरागता के प्रति असीम श्रद्धा और भक्ति थी। पर थोथे कर्मकांडों, दार्शनिक वाद-विवादों और संकीर्ण सांप्रदायिक मान्यताओं में कहीं उनकी झलक भी न दिखायी दी। विपश्यना के मार्ग पर वीतरागता का जरा भी रस चखने लगा तो धन्यता का अनुभव होने लगा।

मृत्यु के पूर्व किसी ने पूछ लिया, "बापूजी, आपकी क्या इच्छा है?" तो कहा, "महावीर की समता।" जिस मार्ग पर चल कर उस समता का रस चखा, उसके प्रवर्तक महान कारुणिक भगवान बुद्ध के प्रति अपरिमित श्रद्धा जागी तो कहा, "भगवान बुद्ध का चित्र लाओ।" अनंत मैत्री और करुणाभरी मुस्कान लिए ध्यानावस्थित भगवान बुद्ध के चित्र को इस विपश्यी साधक ने विपश्यना साधना के अनुकूल नमस्कार किया और साधना में ही लगे रहे।

मृत्यु के कुछ घंटे पूर्व अपने कृत्रिम मलद्वार को साफ किया। सारे कपड़े बदले। स्वच्छ कपड़ों में लेट कर थोड़ा-सा दूध का आहार लिया और मृत्यु के लगभग डेढ़ घंटे पूर्व ध्यान के लिए बैठने की इच्छा प्रकट की। शरीर बिल्कुल अक्षम हो गया था। बैठने की जरा भी शक्ति नहीं थी, फिर भी कुछ औरों के सहारे और कुछ अपने मनोबल से बैठ गये और विपश्यना साधना में लीन हो गये। उन्हें धर्म के दोहे बहुत प्रिय लगते थे। सुनते ही पुलक-रोमांच हो उठता था और साधना तेज हो जाती थी। उस समय भी दोहों की टेप चलवायी। एक ओर टेप चल रही थी, दूसरी ओर साधक की विपश्यना साधना चल रही थी। लगभग डेढ़ घंटे में टेप पूरी हुई। मंगल मैत्री के दोहों के बाद तीन बार 'भवतु सब्ब मंगलं' का उच्चार हुआ। जैसे ही तीसरी बार यह मंगल उच्चार पूरा हुआ, वैसे ही सजग ध्यानस्थ साधक ने अपनी अंतिम सांस छोड़ी। साधक को उत्तम देवगति प्राप्त हुई।

मृत्यु के क्षण आंखें खुली तो खुली रह गयीं। सिर, हथेली और पगथली में विपश्यना से जो उष्णता जागी वह मृत्यु के बाद घंटों बनी रही। चेहरा विपश्यना के मंगल भावों से उद्दीप्त हो उठा। धन्य विपश्यना, धन्य विपश्यी साधक!

रतिलालभाई ने विपश्यना साधना द्वारा लोगों के लिए जीवन जीने की कला का तो एक अच्छा नमूना पेश किया ही, मृत्यु मरने की कला का भी आदर्श उपस्थित किया। धन्य हो! मंगल हो! कल्याण हो!

१४. धन्य धर्म!

श्रावस्ती निवासिनी माता विशाखा भगवान की प्रमुख गृहस्थ शिष्याओं में-से एक थी। अपने पूर्व पुण्यों के कारण वह सात वर्ष की बाल्य अवस्था में ही अपने दादा-दादी और माता-पिता के साथ भगवान के संपर्क में आयी और सद्धर्म में प्रतिष्ठित हुई। विवाह होने पर अपने पति के घर श्रावस्ती में आ बसी और एक आदर्श गृहस्थ नारी का जीवन जीने लगी।

माता विशाखा के अनेक संतानें थीं। सभी पर भगवान की शिक्षा का गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उसका एक पुत्र था– मिगजालतिस्स। घर-गृहस्थी के जंजाल से मुक्त होकर वह प्रव्रजित हुआ और भगवान के भिक्षु संघ में सम्मिलित हुआ। भगवान से विपश्यना साधना विधि सीख कर, अप्रमत्त हो पुरुषार्थ में लग गया। समय पाकर उसे परम मुक्त अवस्था प्राप्त हुई। पुरुषार्थ-सिद्धि के लिए वह जिस मार्ग पर चला, उसका प्रत्यवेक्षण किया। हर्षविभोर होकर बुद्ध तथा उनके धर्म के प्रति कृतज्ञता के भावों से भावविभोर हो उठा। उस समय उल्लास की जो कल्याणी वाणी प्रस्फुटित हुई, वह चिरकाल तक विपश्यी साधकों के लिए प्रेरणा का स्रोत साबित हुई।

जीवन्मुक्त मिगजाल ने कहा;

सुदेसितो चक्खुमता, बुद्धेनादिच्चबन्धुना – मांस चक्षु, दिव्य चक्षु, प्रज्ञा चक्षु, बुद्ध चक्षु और समंत चक्षु, इन पांचों से संपन्न जो चक्षुष्मान भगवान बुद्ध हैं, सूर्यवंशी क्षत्रिय कुल में जनमने के कारण और सम्यक संबोधि के प्रबल प्रताप से महातेजस्वी होने के कारण जो आदित्यबंधु हैं, उन भगवान द्वारा भली प्रकार उपदेशित यह धर्म है।

सब्बसंयोजनातीतो – यह काम राग आदि सभी बंधनों का समतिक्रमण कर देता है, यानी बंधनों के क्षेत्र से पार ले जाता है।

सब्बवट्टविनासनो – यह समस्त संसार वर्तन का यानी भवचक्र का विनाश कर देता है।

निय्यानिको – यह सीधे निर्वाण की ओर ले जाने वाला है।

उत्तरणो – भव सागर से पार उतार देने वाला है।

तण्हामूलविसोसनो – तृष्णा की जड़ को सुखा देने वाला है।

विसमूलं आघातनं, छेत्वा पापेति निब्बुतिं – पूर्व संस्कार की विषभरी जड़ों को गहरी चोट पहुँचा कर उन्हें काट देता है और सारे पापों की अग्नि को शांत कर देता है।

अञ्ञाणमूलभेदाय, कम्मयन्तविघाटनो – अज्ञान यानी अविद्या के मूल का भेदन कर, कर्म-यंत्र को विघटित कर देता है जिससे कि नये कर्म-संस्कार बनने बंद हो जाते हैं।

विञ्ञाणानं परिग्गहे, ञाणवजिरनिपातनो – ज्ञान-वज्र गिरा कर भव-भव में प्रवहमान विज्ञान (चित्त) का खात्मा कर देता है।

वेदनानं विञ्ञापनो, उपादानप्पमोचनो – सभी संवेदनाओं को जान लेने की क्षमता प्रदान करता है और उनके अनित्य स्वभाव को समझते हुए उनके प्रति होने वाली आसक्तियों के स्वभाव को दूर करता है।

भवं अङ्गारकासुंव, ञाणेन अनुपस्सनो – विपश्यना के ज्ञान से अंगार सदृश भव का सही दर्शन करा देता है।

महारसो सुगम्भीरो, जरामच्चुनिवारणो।
अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो, दुक्खूपसमनो सिवो॥

– धर्म का रस सारे रसों से बढ़ कर है। इस माने में यह आर्य अष्टांगिक मार्ग वाला धर्म महारसमय है। सुगंभीर है। जरा-मृत्यु से छुटकारा दिलाने वाला है। शिव है, मंगलमय है।

कम्मं कम्मन्ति ञत्वान, विपाकञ्च विपाकतो – अपनी संवेदनाओं को देखते हुए और उनके प्रति की जाने वाली प्रतिक्रियाओं को देखते हुए साधक को इस योग्य बनाता है कि वह नये कर्म को कर्म जान सके और पुराने कर्मों के विपाक को विपाक जान सके और इस प्रकार –

पटिच्चुप्पन्नधम्मानं, यथावालोकदस्सनो – क्षण प्रतिक्षण उत्पन्न सच्चाइयों को यथाभूत दर्शन के ज्ञान-आलोक में देख सकने और इंद्रियातीत निर्वाण के परम सत्य को सम्यक ज्ञान के आलोक में सम्यक ज्ञान द्वारा दिखा सकने वाला,

महाखेमङ्गमो सन्तो, परियोसानभद्दको – महान योग क्षेम अवस्था को पहुँचाने वाला अंततः परम कल्याणकारी है यह धर्म।

मुक्ति मार्ग का यह सफल यात्री अरहंत मिगजाल अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर धर्म-पथ का विज्ञापन करता है। जिसने धर्म की धर्मता स्वयं अनुभव की है और उससे स्वयं धन्य हुआ है, उस महान साधक के हर्ष उद्गारों से हमें भी प्रेरणा मिले और हम भी उत्साह-उमंग के साथ मुक्ति-मार्ग पर कदम-कदम आगे बढ़ते हुए अपना कल्याण साध लें।

१५. लोक-कल्याण का पथ

एक

यह कुशीनगर है। यहीं भगवान तथागत सम्यक संबुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया। यही वह स्थान है, जहां महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से परिपूर्ण उनका वह सुहावना शरीर अग्नि को समर्पित किया गया।

जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु। प्रकृति का कैसा अटल नियम। जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी, जरा, व्याधि और मृत्यु से बच नहीं सकता। चाहे वह तथागत सम्यक संबुद्ध ही क्यों न हों। परंतु वह मृत्यु साधारण मृत्यु नहीं थी। उस मृत्यु द्वारा ही भगवान सम्यक संबुद्ध ने मृत्युराज मार पर नितांत विजय प्राप्त की। वह उनकी अंतिम मृत्यु थी। अब उसके बाद कोई मृत्यु नहीं थी, क्योंकि उसके बाद और कोई जन्म नहीं था। जहां जन्म निरुद्ध हुआ, वहां जरा, व्याधि और मृत्यु का निरोध तो हो ही गया।

ऐसी पावन धरती पर साधना-शिविर लगाते हुए मन अत्यंत आह्लाद-प्रह्लाद से भर उठा है। यहां की धरती के कण-कण में, यहां की वायु-तरंगों की लहर-लहर में, सद्धर्म के अस्तित्व का एहसास होता है। अणु-अणु में उस महाकारुणिक की करुणा समायी दीखती है, उस प्रेम-पारावार का असीम प्रेम छलकता नजर आता है, उस महान सत्यनिष्ठ की अचल सत्यनिष्ठा झलकती नजर आती है।

करुणा, मैत्री और सत्य, इस त्रिवेणी का पावन संगम ही तो तथागत बुद्ध कहलाता है। इन तीनों के समुच्चय का व्यक्तिकरण ही तो सम्यक संबुद्ध है। बुद्ध माने मूर्तिमंत करुणा। बुद्ध माने मूर्तिमंत मैत्री-प्रेम। बुद्ध माने मूर्तिमंत सत्य। यहां भगवान की यह त्रिमूर्ति बार-बार मन की आंखों के सामने आती रहती है।

उनकी असीम करुणा की एक नन्हीं-सी लहर ने मन-मानस में अँगड़ाई ली और सारा हृदय करुणरस से परिप्लावित हो उठा, सराबोर हो उठा।

अढ़ाई हजार वर्ष पुराना वह दृश्य आंखों के सामने जाग उठा। भगवान ने अपने शरीर त्यागने की निश्चित तिथि तीन माह पूर्व घोषित की और अब पूर्व-निर्धारित स्थान पर शरीर छोड़ने के लिए यात्रा कर रहे हैं। शरीर छोड़ने का

दिन आ पहुँचा है। भगवान की यात्रा जारी है। रास्ते में चुंद नामक लुहार ने भगवान को अत्यंत श्रद्धापूर्वक भोजन के लिए आमंत्रित किया। परंतु भोजन भारी था, गरिष्ठ था। अतः तथागत के बूढ़े रोगी शरीर के लिए अपच्य साबित हुआ, कष्टदायक साबित हुआ। उन्हें पेचिस हुई। शरीर दुर्बल हो गया। मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए उस करुणामय के मन में एक बात जागी। जब श्रद्धालु चुंद को यह मालूम होगा कि उसके गरिष्ठ भोजन के कारण भगवान को शरीर त्यागना पड़ा तो वह दुःख से व्याकुल हो उठेगा। नासमझ लोग उसे धिक्कारेंगे कि उसने भगवान को कैसा भोजन खिलाया और कितना पाप कमाया। यह धिक्कार सुन कर वह व्यथा-वेदना से और भी पीड़ित हो उठेगा। इस चिंतन मात्र से उन महाकारुणिक का हृदय करुणा-विगलित हो उठा और उन्होंने आनंद से कहा – “आनंद! ध्यान रखना, उस श्रद्धालु उपासक चुंद के मन में किसी प्रकार की दुश्चिंता जागने न पावे। मेरे कारण वह दुःखी होने न पावे। उसे समझाना कि तुम्हारा यह भोजनदान तुम्हारे लिए पाप का नहीं, बल्कि बड़े पुण्य का कारण बना है। जिस भोजन को ग्रहण कर तथागत ने पापी मार पर विजय प्राप्त की और सम्यक संबोधि पायी, सुजाता की खीर का वह भोजन-दान जैसे सुजाता के लिए असीम पुण्य का कारण बना, वैसे ही तुम्हारे इस भोजन को ग्रहण कर तथागत अनुपादिशेष-निर्वाण धातु को प्राप्त हुए हैं; सदा के लिए मृत्युराज मार के चंगुल से मुक्त हुए हैं, अतः तुम्हारा यह भोजन भी सुजाता की खीर से कम पुण्यदायी नहीं है, कम फलदायी नहीं है। आनंद! ऐसा कह कर चुंद के मन की उदासी दूर करना। उसे उत्साहित करना।”

धन्य है तथागत की महान करुणा। मृत्यु-शय्या पर भी उन्हें कोई चिंता है तो इसी बात की कि उनकी वजह से किसी का मन दुःखी न हो। उनकी असीम करुणा किसी को दुःखी नहीं देख सकती थी।

दो

भगवान के अतुल मैत्री प्रेम की प्रकाश-किरण मानस-पटल पर चमक उठी। भगवान युग्म शाल-वृक्षों के नीचे बिछी हुई संघाटी पर अत्यंत रुग्ण अवस्था में लेटे हुए हैं। वैशाख पूर्णिमा का उदास चांद सारे वातावरण में उदासी बिखेरता हुआ अस्ताचल की ओर लुढ़कता चला जा रहा है। भगवान के परिनिर्वाण का समय समीप आता जा रहा है। श्रद्धालु उपासकों की भीड़

तथागत के अंतिम दर्शन करने के लिए उमड़ रही है। उसी समय **सुभद्र** नाम का एक नया मुमुक्षु भगवान से धर्मलाभ हासिल करने के लिए आता है, परंतु आनंद उसे दूर से ही यह कह कर रोकता है कि भगवान बहुत थके हुए हैं, उन्हें कष्ट न दो। आनंद की आवाज भगवान के कानों में पड़ती है। वह करुणा-विह्वल हो उठते हैं। प्यासा अपनी प्यास बुझाने के लिए धर्म-गंगा के पास आया है और तट तक पहुँचने पर भी कोई उसे पानी पीने से रोक रहा है। उसकी लाचारी देख कर धर्म-गंगा स्वयं मचलने लगी। उसमें प्रेम और करुणा का ज्वार उठने लगा। आनंद को टोकते हुए मैत्री-मूर्ति भगवान तथागत ने कहा, "नहीं, आनंद! सुभद्र को मना मत करो। उसे आने दो। वह मुझे कष्ट देने नहीं आया है। सच्चा धर्म-जिज्ञासु है। थोड़े में ही धर्म का रहस्य समझ लेगा। उसे मत रोको, उसे मेरे पास आने दो।"

और इस प्रकार अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक, अपने कष्टों की जरा भी परवाह न करते हुए, मैत्री के अनंत सागर ने उस धर्म-जिज्ञासु को धर्म-देशना दी, सच्चे धर्म का मार्ग सिखाया, जो कि उसके हित-सुख का कारण बना। उनके अंतर का अपरिमित पारावार, मंगल-मैत्री का असीम सागर, जीवन की अंतिम सांस तक सभी प्राणियों की अथक सेवा के लिए उद्वेलित होता रहा। मंगल-धर्म बांटने में उन्हें थकान कहां? इससे विमुख हो कर उन्हें आराम कहां? विश्राम कहां?

तीन

और तभी मानस-पटल पर उभर उठा उनकी सत्यनिष्ठा का एक और पावन प्रसंग। अंतर्मन में गूंज उठे, आखिरी सांस छोड़ने के पहले उनकी अंतिम वाणी के ये अनमोल बोल– **वयधम्मा सङ्खारा, अप्पमादेन सम्पादेथ।** हे भिक्षुओ! सुनो, सारे संस्कार व्यय-धर्मा हैं, मरण-धर्मा हैं, नष्ट-धर्मा हैं। जितनी भी संस्कृत यानी बनी हुई वस्तुएं हैं, व्यक्ति हैं, घटनाएं हैं, स्थितियां हैं, वे सब नश्वर हैं, भंगुर हैं, मरणशील हैं, परिवर्तनशील हैं। यही प्रकृति का कठोर सत्य है। प्रमाद से बचते हुए, आलस्य से दूर रहते हुए, सतत सचेत और जागरूक रहते हुए, प्रकृति के इस सत्य का संपादन करते रहो! इस सत्य में स्थित रह कर अपना कल्याण साधते रहो!

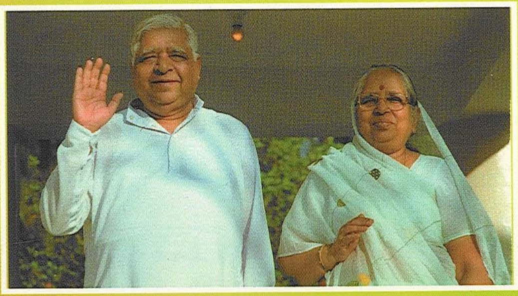
कैसी थी मानव जगत को भगवान तथागत की यह अनुपम, अनमोल, अंतिम भेंट! कैसी थी यह मूल्यवान विरासत! कैसा था यह अनुत्तर दायाद! कैसा था यह मंगल-धर्म का अनोखा अनमोल उपहार!

उस महान सत्य-निष्ठ ने जीवन भर स्वयं सत्य का संपादन किया और लोगों को भी सत्य-दर्शन के लिए ही प्रेरित, प्रोत्साहित किया। यह सारा ऐंद्रिय जगत, यह नाम और रूप की सम्मिलित जीवनधारा, यह शरीर और मन का मिला-जुला सरित-प्रवाह, कितना क्षण-भंगुर है! कितना नश्वर है! कितना परिवर्तनशील है! क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाली इस प्रवाह-संतति को प्रतिक्षण निर्विकार, निरासक्त भाव से देखते रहने का नाम ही तो विपश्यना है। यही सत्य का शुद्ध दर्शन है। इसी में विमुक्ति का मंगल समाया हुआ है।

बिना प्रमाद में डूबे हुए हम भी इस सत्य का दर्शन करते रहें और अपने जीवन के अंतिम लक्ष्य का संपादन करते रहें। काया, वेदना, चित्त और धर्म की विपश्यना साधना द्वारा इस सत्य का साक्षात्कार करते रहें। अनित्य, दुःख और अनात्म का साक्षात्कार करते रहें, प्रज्ञा जागृत रखते रहें। विपश्यना साधना की यह जागृति जीवन का अंग बन जाय, स्वभाव का अंग बन जाय। भगवान के ये अंतिम शब्द निरंतर हमारे लिए प्रेरणा का कारण बनते रहें। इससे बढ़ कर और क्या उद्‌बोधन होगा भला?

वयधम्मा सङ्खारा
अप्पमादेन सम्पादेथ!
अप्पमादेन सम्पादेथ!
अप्पमादेन सम्पादेथ!

उनके बताये हुए मार्ग पर चल कर हममें भी उनकी-सी अनंत करुणा जागे। हममें भी उनकी-सी अनंत मैत्री जागे। हममें भी उनकी-सी अविचल सत्य-निष्ठा जागे। इसी में हमारा मंगल! इसी में हमारा भला! इसी में हमारा कल्याण! इसी में हमारी स्वस्ति! इसी में हमारी मुक्ति!



आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का एवं श्रीमती इलायचीदेवी गोयन्का

श्री सत्यनारायणजी गोयन्का का जन्म म्यंमा (बर्मा) के मांडले शहर में १९२४ में हुआ। १०वीं कक्षा में सारे बर्मा में सर्वप्रथम आने पर भी पारिवारिक कारणों से आगे की पढ़ाई न कर सके। उन्होंने कम उम्र में ही अनेक वाणिज्यिक और औद्योगिक संस्थानों की स्थापना की और खूब धन अर्जित किया। अनेक सामाजिक तथा सांस्कृतिक केंद्रों की स्थापना की। तनावों के कारण शिरोरोग (Migraine) के शिकार हुए, जिसका उपचार बर्मा के ही नहीं, बल्कि विश्व के प्रसिद्ध डॉक्टर भी न कर सके। तब किसी ने उन्हें 'विपश्यना' की ओर मोड़ा, जो आज उनके तथा अनेकों के कल्याण का कारण बन गयी है।

सयाजी ऊ बा खिन से श्री गोयन्काजी ने १९५५ में विपश्यना विद्या सीखी और चौदह वर्षों तक उनके चरणों में बैठ कर अभ्यास करने के साथ बुद्धवाणी का भी अध्ययन किया। १९६९ में वे भारत आये और मुंबई में पहला शिविर लगा। तत्पश्चात शिविरों का तांता लग गया। १९७६ में इगतपुरी में पहला निवासीय विपश्यना केंद्र बना और अब तक विश्वभर में लगभग १६७ केंद्र बन गये हैं तथा नित नये बनते जा रहे हैं, जहां प्रशिक्षित किये हुए लगभग १२०० विपश्यनाचार्यों के माध्यम से विश्व की ५९ भाषाओं में १०-दिवसीय शिविरों के अतिरिक्त, कई केंद्रों पर २०, ३०, ४५, ६० दिन के शिविर लगते हैं। सब का संचालन निःशुल्क होता है। भोजन, निवासादि का खर्च शिविर से लाभान्वित साधकों के स्वैच्छिक अनुदान से चलता है। इसके सर्वहितकारी स्वरूप को देख कर विश्व की अनेक जेलों और स्कूलों में ही नहीं, पुलिसकर्मियों, जजों, सरकारी अधिकारियों आदि के लिए भी शिविर लगाये जाते हैं।

ISBN 81-7414-127-8
VRI - H0 3